पौराणिक-काव्यशास्त्र-तत्त्वानुशीलन

डा० माण्डवी चन्द्रा



प्रकाशक

भारतीय-संस्कृति-संस्थानम्

शाखा-अमीनाबाद, लखनऊ

आवरण मुद्रक-टण्डन प्रेस, गोण्डा फोन : 417

पौराणिक-काव्यशास्त्र-तत्त्वानुशीलन

डा० माण्डवी चन्द्रा



प्रकाशक

भारतीय-संस्कृति-संस्थानम्

शाखा–अमीनाबाद, लखनऊ

आवरण मुद्रक - टण्डन प्रेस, गोण्डा फोन : 417

प्रथम संस्करण—१९९०

मूल्य रु० ५०

मुद्रकः—
श्री विद्या प्रेस
छित्तूपुर, वाराणसी—२२१००५

भूमिका

भारतीय संस्कृति के निर्माण में पुराणों का विशेष महत्त्व है। पुराणों की विभिन्न प्रकार की विषय-वस्तु सर्वथा उपादेय एवं सार्वजनीन है। वर्तमान युग में ज्ञान-संवर्धन की दिशा में पुराणों का यथायोग्य उपयोग नहीं हो रहा है। पुराणों में एक ओर जहां देवताओं की अलौकिक शक्तियों का वर्णन है, वहां दूसरी ओर सामाजिक नियम, उपवास और मन्त्र-साधना-सिद्धि आदि का विधान है। इतिहास की दृष्टि से भी पुराण महत्त्वपूर्ण हैं। काव्य-शास्त्र-चर्चा पुराणों में उच्चस्तरीय है। इसी कारण पुराणों को बहुत अधिक महत्त्व दिया गया तथा इसे वेदों के समान पठनीय और मननीय बतलाया गया है।

आधुनिक विद्वान् इस अतुलनीय काव्यशास्त्रीय सामग्री का सदुपयोग करें, इस उद्देश्य से प्रेरित होकर मैने इसे अपने तुलनात्मक अध्ययन का विषय बनाया। बहुत से अमूल्य रत्न सागर की गहराई में पड़े रह जाते हैं तथा उनकी आभा से कोई भी लाभान्वित नहीं हो पाता, सिवाय उस अथाह जलराशि के जिसे पहले से ही रत्नाकर होने का अभिमान है किन्तु वही रत्न यदि कोई साहसी गोताखोर निकाल ले तो वह रत्न अपनी अलौकिक अप्रतिम आभा से दिग्दिगन्त को प्रकाशित कर सकता है। कोई भी वस्तु चाहे कितनी भी मूल्यवान् क्यों न हो, यदि उसका सदुपयोग न हो सके तो वह समग्र समाज के लिए चिन्त्य प्रकरण कहा जा सकता है। पुराणों की यह अनुपम सामग्री सबके सामने आ जाय, इसलिए मैंने इस विषय पर लिखने का प्रयास किया है।

पुराणों से प्राप्त काव्यशास्त्रीय सामग्री का विवेचन करते हुए मैने अन्य लक्षण ग्रन्थकारों के मतों का यथासम्भव उल्लेख किया है। पुराणों में दिए गये काव्य के लक्षणों का वर्णन कर काव्य के भेद एवं उपभेद गिनाने का प्रयास किया गया है। महाकाव्य के लक्षणों के साथ ही गद्य काव्य के प्रमुख भेद एवं उपभेदों की भी चर्चा की गई है। रीति एवं वृत्तियों के भेद एवं रसों के साथ उनकी अनुकूलता का वर्णन है।

अलंकारों की विवेचना करते हुए पुराणों के साथ ही साथ अन्य लक्षणग्रन्थों के आधार पर अलंकारों की परिभाषा एवं महत्त्व दर्शाते हुए उनका वर्गीकरण प्रस्तुत किया गया है। पुराणों में कुछ नए अलंकारों का तो वर्णन है परन्तु कुछ

प्रसिद्ध अलंकारों को बिल्कुल स्थान नहीं दिया गया है। लोक में मनोरंजन के साधन प्रहेलिका को अलंकारों में गिनाना विशेष उल्लेखनीय है।

रसनिरूपण के अन्तर्गत काव्य में रस के महत्त्व को प्रदर्शित करते हुए उसके मुख्य तत्त्वों की विस्तृत व्याख्या की गई है। रसों की संख्या निर्धारित करते हुए शान्त रस की प्रासंगिक चर्चा कीं गई है। नवरसों के स्थायी भाव, उनके उद्गम-स्थान, रंग तथा देवताओं का वर्णन किया गया है। इसमें नायक तथा नायिका भेद का विवेचन रूपक की उत्पत्ति के विभिन्न सिद्धान्तों का वर्णन करते हुए रूपकों के स्वरूप तथा उनके भेद और प्रभेद पर विचार किया गया है। नाटक की अर्थप्रकृतियां, कार्यावस्थाओं एवं नाटक की सन्धियों का वर्णन कर उनका परस्पर सम्बन्ध प्रदर्शित किया गया है।

काव्यगुणों का विवेचन करते हुए उनका महत्त्व प्रदर्शित किया गया है। पुराणों के अनुसार गुणों की संख्या का वर्णन है। शब्दगुणों एवं अर्थगुणों के भेद का उल्लेख कर पाकगुण एवं रागगुण के बारे में बतलाया गया है। अन्य विलक्षण गुणों का भी वर्णन है। साथ ही काव्यगुणों का वर्णन किया गया है। उनके स्वरूप के पश्चात् उनके प्रकार गिनाये गये हैं। कुछ परिस्थितियों में दोष होते हुये भी दोष प्रतीत नहीं होते हैं और कभी-कभी तो वे गुण में परिवर्तित हो जाते हैं। अन्त में उपसंहार में काव्यशास्त्र की दृष्टि से पुराणों का महत्त्व प्रदर्शित किया गया है।

पुराणों जैसे विस्तृत ग्रन्थ के उपजीवित विषय पर लेखनी उठाना दुःसाध्य है। अतएव केवल उसके काव्यशास्त्रीय भाग को लेकर उसका विवेचन प्रस्तुत करने का प्रयास किया गया है। इस प्रयास में कहां तक सफलता मिली है, इसका निर्णय सुधीजन करेंगे।

माण्डवी चन्द्रा
१८. १. ९०

विषय-सूची

पूर्वपीठिका

काव्यशास्त्रीय-तत्त्व सभी पुराणों में नहीं मिलते। काव्यशास्त्र की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण पुराण हैं—अग्नि और विष्णुधर्मोत्तर।

अग्निपुराण

अग्निपुराण नाम से प्रतीत होता है कि इसमें भी अन्य पुराणों की भाँति अग्नि की स्तुति होगी परन्तु वास्तव में ऐसा नहीं है। बहुविध विषयों के तत्त्व अग्निदेव के मुख से कहलाए जाने के कारण उसको यह संज्ञा मिली। रस अलंकार, रीति और वृत्ति, काव्य के लक्षण, गुणदोष तथा नाट्याभिनय इत्यादि का जैसा साङ्गोपाङ्ग वर्णन अग्निपुराण में मिलता है, वैसा अन्यत्र दुर्लभ है। यही कारण है कि आधुनिकतम रससिद्ध आचार्यों एवं लक्षणग्रन्थ-कारों के लिए यह उपयोगी बना रहा। आनन्दाश्रम–ग्रन्थावली से प्रकाशित अग्निपुराण में इसकी प्रशंसा करते हुए लिखा गया है कि अग्निपुराण में कथावस्तु का औचित्य है तथा भाव और विषय-वस्तु को बहुत ही प्रांजल भाषा एवं सुलझे हुए ढंग से बतलाया गया है।[1]

अग्निपुराण वास्तव में अनुपम ग्रन्थ है, पौर्वात्य एवं पाश्चात्य विद्वानों ने इसकी प्रशंसा की है, एवं इसको भारतीय ज्ञानकोष की संज्ञा दी है। यह गौरवान्वित पद किसी अन्य पुराण को नहीं प्राप्त है। विन्टरनिट्ज़ के अनुसार अग्निपुराण एक विश्वकोष है तथा भारतीय वाङ्मय में व्याप्त प्रत्येक विषय का समावेश इस पुराण में है।[2] इसमें व्याकरण, सुश्रुत का औषध-ज्ञान शब्दकोष, वेद-वेदाङ्ग, ज्योतिष एवं काव्यशास्त्र आदि विषयों पर प्रचुर उपादेय सामग्री संगृहीत है।

श्री एफ० ई० पार्जिटर ने इस पुराण को विशेष महत्त्व नहीं दिया है, तथा

---

1. The Agni purāṇah holds Auchitya of theme. style, diction and the main sentiment accompanied by vigorous language and refined style.

   (Agni purāṇah, Anandāśarm Series.)

2. Histoy of Indian Literature-P. 566)

इसके विषय में लिखा है कि इसमें वंशपरम्परा से सम्बद्ध सामग्री उपलब्ध होती है और इसमें मत्स्य पुराण का अनुकरण है।[1] किन्तु ऐसा होने पर भी मत्स्य पुराण का अनुकरण बतलाकर अग्निपुराण का महत्त्व कम नहीं किया जा सकता है। अपनी काव्यशास्त्र सम्बन्धी सामग्री के कारण जो महत्त्व अग्निपुराण का है, वह और किसी भी पुराण का नहीं हो सकता। भारतीय तथा पाश्चात्त्य दोनों ही विद्वानों ने इसे महत्त्वपूर्ण बताया है। पुराणों के अधिकारी विद्वान् पं० बलदेव उपाध्याय ने इसका महत्त्व विश्वकोष के रूप में स्वीकार किया है।[2] वरदाचार्य ने अग्निपुराण को एक महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ एवं विश्वकोष के रूप में स्वीकार किया और लिखा है कि अग्निपुराण तो प्राचीन भारत के ज्ञान और विज्ञान का विश्वकोष ही है।[3] डा० एस० डी० ज्ञानी ने इसको अन्य पुराणों से अधिक महत्त्वपूर्ण स्वीकार करते हुए ज्ञान–विज्ञान एवं विविध विषयों का कोष स्वीकार किया है।[4]

ज्ञानकोष होने के कारण इसका स्वरूप व्याख्यात्मक न हो कर संग्रहात्मक है। वास्तव में ज्ञानकोष का कार्य जितना नाम निर्देश करना है, उतना स्वरूप निर्णय करना नहीं। संस्कृत की काव्यशास्त्रीय परम्परा में अग्निपुराण की देन अनेक दृष्टियों से महत्त्वपूर्ण हैं। यह ग्रन्थ पूर्ववर्ती तथा परवर्ती काव्यशास्त्रीय ग्रन्थों के बीच शृंखला का कार्य करता है। कोई भी काव्यशास्त्री बिना अग्निपुराण की सहायता लिये सर्वाङ्गपूर्ण लक्षण ग्रन्थ की रचना नहीं कर सकता।

---

1. Ancient Indian Historical Traditions-P. 80.
2. संस्कृत साहित्य का इतिहास पृ० २८८।
3. Histoy of Sanskit Literature-p. 85.
4. Agnipurāṇa occupies a position of importance in the general scheme of the Puranic literature. It represents a phase of that literature when it had reached the climax of its development and become Encyclopaedic embodying a variety of topics. In this respect it can easily be distinguished from the earlier Purāṇas like the Vāyu Brahmāṇḍa, Visṇu, Matsya, Bhagavata etc.

   (Agni purana : A Study–Introduction page-36)

भारत में न केवल संस्कृत भाषा के अपितु अन्य भाषाओं के भी काव्य-शास्त्रीय ग्रन्थों की वर्ण्य सामग्री के स्रोत निर्देश करने में अग्निपुराण की सहायता लेना अनिवार्य हो है।

रचनाकाल

पुराणों के काल-निर्णय के विषय में विद्वानों में मतभेद है। अग्निपुराण में विभिन्न विषयों का समावेश देखते हुए डा० विन्टनिट्ज़ ने भारतीय साहित्य के इतिहास में इस समस्या का उल्लेख करते हुए लिखा है कि इस महत्त्वपूर्ण कोष की अथवा इसके विभिन्न भागों की रचना कब हुई--यह कहना कठिन है, विशेषकर ऐसी स्थिति में जब इसमें परस्पर विभिन्न और विरोधी विषयों का समावेश है।[1]

इसी प्रकार डा० विल्सन इस पुराण के विविध विषयों की रचना तथा संकलन विभिन्न कालों से सम्बद्ध मानते हैं। श्री एम० एम० दत्त इसके समय का विवेचन प्रस्तुत करते हुए निष्कर्ष रूप में कहते हैं कि यद्यपि निर्विवाद रूप से यह कहना कठिन है कि यह विश्वकोष कब लिखा गया परन्तु यह निर्विवाद रूप से सत्य है कि यह मुसलमानों के आक्रमण के पहले लिखा गया था। अग्नि-पुराण में रामायण और महाभारत की रूपरेखा है, जो विशेष रूप से प्रमाणित करते हैं कि इस स्थल का निर्माण रामायण और महाभारत की रचना के पश्चात् हुआ है।

इस सम्बन्ध में द्विजेन्द्रलाल राय अपना मन्तव्य उसके वर्ण्य विषय के आधार पर सिद्ध करने का प्रयत्न करते हैं। जिन रीतियों का अग्पिुराण में उल्लेख है, वे इस समय अधिकतर हैं ही नहीं। अत एव यह मानना होगा कि अग्निपुराण मुस्लिम आक्रमण से पूर्व तथा तान्त्रिक पूजा-प्रणाली के पश्चात् कभी लिखा गया होगा।

डा० एफ० ई० पार्जिटर के मतानुसार यह पुराण ६ वीं शताब्दी के बाद लिखा गया होगा। डा० हाजरा ने अवतार–प्रकरण के प्रसंग के कारण इसे ९वीं शताब्दी के बाद की रचना माना है। पुराणों में कहा गया है कि म्लेच्छ शासक होकर मनुष्यों का भक्षण करेंगे। यह इतिहास प्रसिद्ध और

---

1. History of Indian Literature-P. 566.

सर्वमान्य तथ्य है कि मुसलमानों का सशक्त प्रवेश इस देश में प्रथम बार ६ वीं शताब्दी में हुआ ।[1]

यह भी विवाद का प्रश्न है कि अग्निपुराण के समस्त भाग एक ही साथ लिखे गये अथवा भिन्न-भिन्न कालों में । यद्यपि कुछ पुराणों में बाद में भी कुछ अंश जोड़े गये हैं परन्तु जहाँ तक अग्निपुराण के काव्यशास्त्रीय भाग का सम्बन्ध है, इसको अन्य अंशों से भिन्न समय में लिखा जाना स्वीकृत करना अभीष्ट नहीं है । पौराणिक परम्परा में आस्था रखने वाले भारतीय विद्वान् सभी पुराणों को वैदिक साहित्य के पश्चात् की रचना सिद्ध करने का प्रयास करते हैं । इस विषय में चन्द्रकान्त बाली का कथन है कि अग्निपुराण मध्यकाल की रचना है, जब साहित्य के स्वर्ण युग का प्रारम्भ हुआ ।

कुछ विद्वान् अग्निपुराण को पांचवीं या छठीं शताब्दी-ईस्वी के लगभग सिद्ध करने का प्रयास करते हैं । इस विचारधारा के प्रवर्तक श्री कन्हैया लाल पोद्दार हैं । ये अग्नि पुराण को भामह तथा दण्डी से पूर्ववर्ती मानते हैं । दण्डी के काव्य के पूर्व अग्निपुराण की रचना अवश्य हो चुकी होगी, क्योंकि कुछ स्थलों पर दण्डी के काव्यादर्श में अग्निपुराण के वाक्य को यथावत् प्रस्तुत किया गया है तथा कहीं पर कुछ परिर्तन के साथ । जैसे अलंकार की परिभाषा के सन्दर्भ में काव्यादर्श और अग्निपुराण में एक ही वाक्य मिलता है कि काव्य की शोभा बढ़ाने वाले धर्म को अलंकार कहते हैं ।[2]इसी प्रकार काव्यलक्षण देते समय दण्डी ने अग्निपुराण का अनुकरण किया है, जिसमें एक शब्द का पर्यायमात्र है । अग्निपुराण में कहा गया है कि इष्ट अर्थ से युक्त पदों के समूहों का नाम वाक्य है । दण्डी ने उसे ही काव्य माना है ।[3]

---

1. Studies in the Puranic Records on Hindu Rites and Customs.

२. काव्यशोभाकरान्धर्मानलङ्कारान् प्रचक्षते ।
अग्निपुराण—३४२/१७ का उत्तरार्द्ध तथा काव्यादर्श परिच्छेद २/१ का पूर्वार्द्ध) ।

३. संक्षेपाद्वाक्यमिष्टार्थव्यवच्छिन्ना पदावली ।
(अग्निपुराण-३३/६ का उत्तरार्द्ध) तथा शरीरं तावदिष्टार्थव्यच्छिन्ना पदावली ।
(काव्यादर्श—१/१० का उत्तरार्द्ध)

अग्निपुराण आचार्य भरत के बाद लिखा हुआ प्रतीत होता है, क्योंकि इसमें भरत के नाम का उल्लेख बड़े आदर से करते हुए उनको भारती वृत्ति का प्रणेता बतलाया गया है।[1] यद्यपि परस्पर विरोधी तथ्यों को एकरस करना कठिन कार्य है किन्तु इतना तो कहा जा सकता है कि इसे काव्यशास्त्र की प्रारम्भिक रचना मानने के स्थान पर प्रौढावस्था की रचना मानना चाहिए, जब दण्डी और भामह के पश्चात् काव्यशास्त्र विकसित होने लगा था। डा० एस० के० डे० ने लिखा है कि सम्पूर्ण पुराण की रचनातिथि भले ही कुछ और हो किन्तु उपर्युक्त कथन के अनुसार अलंकार भाग को ९ वीं शताब्दी के मध्य भाग के पश्चात् ही निर्धारित करना युक्तिसंगत होगा।[2]

अग्निपुराण और भोजराज का शृंगारप्रकाश रचना की दृष्टि से प्रायः समकालीन हैं, क्योंकि दोनों ग्रन्थ एक दूसरे से कुछ प्रभावित प्रतीत होते हैं। भोजराज का समय ११ वीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध का है। अग्निपुराण भी दसवीं--ग्यारहवीं शती का होना चाहिए।

अग्निपुराण में ३८३ अध्याय हैं। अवतार-कथाओं के साथ विभिन्न कर्मकाण्डों का भी इसमें वर्णन है। मन्दिर-निर्माण-कला, प्रतिष्ठा व पूजन का विधान विस्तार से है तथा आयुर्वेद, ज्योतिष-शास्त्र, धर्मशास्त्र, व्रत एवं राजनीति आदि शास्त्रों का सुचारु रूप से विश्लेषण है। परन्तु सबसे अधिक वैज्ञानिक विश्लेषण काव्यशास्त्र का है। ३३७ से ३४७ अध्याय तक काव्यशास्त्रीय सामग्री का निरूपण किया गया है, जिसका परिचय निम्नलिखित प्रकार से है।

अध्याय ३३७

इस अध्याय में काव्य की परिभाषा एवं लक्षण आदि का कथन है।[3] ध्वनि, वर्ण, पद, और वाक्य को वाङ्मय कहते हैं। शास्त्र का इतिहास और काव्य ये तीनों वाङ्मय के अन्तर्गत आते हैं। अग्निपुराण में कवित्वशक्ति को दुर्लभ

---

१. भरतेन प्रणीतत्वाद् भारतीरीतिरुच्यते।
(अग्निपुराण—३४०/६ का उत्तरार्द्ध)

२. संस्कृत काव्यशास्त्र का इतिहास—पृष्ठ ९१

३. काव्यादि लक्षणम्, काव्यलक्षणकथनम्, गद्यपद्यात्मक--काव्यवैविध्यम् आख्यायिकादिभेदेन गद्यकाव्यस्य पंचप्रकारत्वम्, आख्यायिकादीनां लक्षणम्, पद्यकुटुम्बादिकथनम्, महाकाव्यलक्षणादिकञ्च।
(अग्निपुराण का ३२७ वां अध्याय)

बतलाया गया है तथा ईश्वरीय विधान से ही इसकी प्राप्ति सम्भव है।[1] बल्लालदेव ने भोजप्रबन्ध में इस बात का अनुमोदन किया है कि कवित्व का वैभव तो गुरु की कृपारूपी पीयूष के पाक से ही प्राप्त होता है। विशेष अध्ययन से या हठपूर्वक इसे नहीं प्राप्त किया जा सकता[2]।

अन्य लक्षणग्रन्थकारों ने भी अलंकारशालिनी काव्यशक्ति को सर्वश्रेष्ठ घोषित किया है।

अग्निपुराण में दी गई काव्य की परिभाषा विशेष लोकप्रिय हुई। इस अध्याय में काव्य तीन प्रकार का बतलाया गया है गद्य, पद्यऔर चम्पू।

इसमें गद्यकाव्य के पाँच प्रकार वर्णित है—आख्यायिका, कथा, खण्डकथा, परिकथा और कथानिका।

अग्निपुराण में पद्य के सात भेद प्रदर्शित किए गए हैं— महाकाव्य, कलाप, पर्यायबन्धक, विशेषक, कुलमुक्तक, कोष।

इसमें महाकाव्य के लक्षणों पर साङ्गोपाङ्ग प्रकाश डाला गया है। परवर्ती कतिपय लक्षणग्रन्थकारों ने इस पुराण में उल्लिखित परिभाषा को आधार बनाया। महाकाव्य का सर्गों में विभाजन अनिवार्य बतलाया गया है।

अध्याय ३३८

इस अध्याय में नाटक के प्रकार पर सम्यक् प्रकाश डाला गया है। इसमें रूपकों के २४ भेद प्रदर्शित किए गए हैं।[3] नाटक की दो प्रकार की प्रवृत्तियाँ वर्णित की गई हैं। पूर्वरङ्ग के पश्चात् नान्दी-कथन की व्यवस्था होनी चाहिए। इसमें नटी, विदूषक, पारिपार्श्विक इत्यादि अपनी चर्चा द्वारा नाटक की प्रस्ता-

---

१. नरत्वं दुर्लभं लोके, विद्या तत्र सुदुर्लभा।
कवित्वं दुर्लभं तत्र, शक्तिस्तत्र च दुर्लभा॥

(अग्निपुराण—३३७/३

२. यत्सारस्वतवैभवं गुरुकृपापीयूषपाकोद्भवम्।
तल्लभ्यं कविनैव नैव हठतः पाठप्रतिष्ठाजुषाम्॥

भोजप्रबन्ध श्लोक ९५

३. नाटकस्य प्रकरणादि भेदनिरूपणम्, नाट्यलक्षण–पूर्वमुख--नान्दीमुख-लक्षणम्, नटी- विदूषक-- पारिपार्श्विक-- पात्राणां वर्णनम्, कथोद्घात-लक्षणम्, सिद्धोत्प्रेक्षितादि भेदाः।

चना का कथन करते हैं। इतिवृत्त की सर्वाधिक प्रधानता है और उसे नाटक का शरीर कहा गया है। इसमें नाटक की पाँच अर्थप्रकृतियों और पाँच सन्धियों का वर्णन है।

अध्याय ३३९

इस अध्याय में शृंगार आदि रसों का वर्णन है। सर्वप्रमुख रस शृंगार है तथा अन्य रस इसके सहयोगी हैं। रसों के रति, हास इत्यादि नव स्थायी भावों का भी साङ्गोपाङ्ग विवेचन है।[1] रस के आधार विभावों का वर्णन किया गया है तथा आलम्बन और उद्दीपन नामक उसके दो भेद बतलाए गए हैं।

नायक एवं नायिकाभेद इसी अध्याय में समाहित हैं। नायक और नायिका के प्रमुख आठ भेदों का वर्णन है। मुख्य रूप से नायिका के तीन भेद होते हैं। पुरुषों में रहने वाले आठ प्रकार के भावों का इसमें वर्णन है। स्त्रियों में रहने वाले भाव बारह प्रकार के बतलाए गए हैं, जिनसे स्त्रियों की शोभा में वृद्धि होती है। इस अध्याय के अन्त में हाव का लक्षण दिया गया है। भाषण के छः प्रकारों का इसमें वर्णन है।

अध्याय ३४०

इस अध्याय में रीति का वर्णन किया गया है। वाग्विद्या का पूर्ण ज्ञान कराने के लिए रीति का महत्त्वपूर्ण स्थान हैं। इसमें प्रमुख चार प्रकार की रीतियों का वर्णन है[2]—पांचाली, गौडी, वैदर्भी और लाटी

चारों प्रकार की रीतियों के लक्षण दिए गए हैं। नायकादि के नियमपूर्वक व्यवहार को वृत्ति कहते हैं और वृत्तियों के भेद एवं प्रभेदों का वर्णन है। भिन्न-भिन्न प्रकार के पात्रों के कथन में भिन्न-भिन्न प्रकार की वृत्तियों का प्रयोग होना चाहिए।

---

१. शृंगारादिरसनिरूपणम्, इतिहासादि लक्षणम्, विभावस्यालम्बनो द्दीपनात्मक- भेदेन द्विप्रकारत्वम्, धीरोदात्त-- नायिकादिभेदः शृंगारे नायकस्य नर्मसचिवानुनायकानां च वर्णनम् भाषणादिस्वरूपम्।

२. रीति-- निरूपणम् पांचालीगौड्यादिभेदेन रीतिनिरूपणम्।
अग्नि पुराण का ३४० वां अध्याय

अध्याय ३४१

इस अध्याय में नायक एवं नायकादि की विशेष चेष्टाओं को आंङ्गिक अभिनय कहते हैं। इसमें नायिकाओं की चेष्टाओं का अधिक वर्णन है और प्रमुख रूप से ये बारह प्रकार की गिनाई गई हैं।[1] अङ्ग तथा प्रत्यङ्ग की परिभाषा तथा इससे उत्पन्न होने वाले अभिनयों को गिनाया गया है।

नृत्य में सिर से सम्बन्धित अभिनय तेरह प्रकार का माना जाता है। भृकुटि-कर्म सात प्रकार का तथा तारिका का कार्य नौ प्रकार का जाता है। नृत्य में भूमि पर हाथों के प्रयोग दो प्रकार के होते हैं। इनके भी चौबीस उपप्रकार बतलाए गए हैं। नृत्य का काव्यशास्त्र से सीधा सम्बन्ध नहीं है किन्तु नाटक के अभिनय में नृत्य अपरिहार्य अंग है।

अध्याय ३४२

इस अध्याय में अभिनय के प्रकार की विस्तार से चर्चा की गई है नाटकों की कथावस्तु को दर्शकों के समक्ष लाने का कार्य अभिनय द्वारा होता है। जितना सजीव अभिनय होगा, नाटक का वर्ण्यविषय उतना ही अधिक स्पष्ट होगा। मुख्य रूप से अभिनय चार प्रकार का बतलाया गया है।[2]

अग्निपुराण में रस को सर्वाधिक महत्त्व दिया गया है। रसनिरूपण नाम से एक अलग अध्याय देने पर भी पुनः अभिनय– प्रकार में रस का वर्णन किया गया है। इसमें रस के भेदों की ओर अधिक ध्यान दिया गया है। श्रृंगार रस के दो भेद बतलाए गए हैं। इन दो भेदों के उपभेद वणित हैं। हास चार प्रकार का बतलाया गया है। करुण रस तीन प्रकार का होता है। रौद्र रस के तीन भेद हैं। इसी प्रकार वीररस तीन प्रकार का होता है। बीभत्स रस के दो भेद होते हैं।

अभिनय-- निरूपण वाले प्रकरण में अलंकारों की परिभाषा और प्रकार बतलाए गए हैं। मुख्य रूप से ये तीन प्रकार के हैं। इसमें विभिन्न प्रकार

---

१. नृत्यादावङ्गकर्मनिरूपणम्, कामिनीनां लीलाविलसादिभेदन शरीर-चेष्टादिकथनम्, शिरःकम्पनादाकम्पितादिभेदेन त्रयोदशप्रकाराः, सप्त-प्रकारेण भ्रूकर्मादिकं, तारकादीनां नवधाकर्मादिकथनम्।

२. अभिनयादि--निरूपणम्, अभिनयलक्षणम्, रसादिविनियोग--सम्भोग–विप्रलम्भादि भेदेन श्रृंगारो द्विधेति, पुनस्तद्भेदः हासादि–लक्षणम्, करुणादिरसानां भेदाः।

की उक्तियों पर प्रकाश डाला गया है और ये प्रमुख रूप से चार प्रकार की बतलाई गई हैं। इनके भी भेद–प्रभेद वर्णित हैं। युक्ति की परिभाषा और भेद की चर्चा की गई है।

अध्याय ३४३

इस अध्याय में शब्दालंकारों का वर्णन है। इसमें अनुप्रास की प्रमुखता है और उसी के आधार पर मुख्य-मुख्य वृत्तियों का कथन है। इन दोनों के विभाजन के आधार पर अन्य पाँच वृत्तियाँ हैं[1] --मधुरा, ललिता, प्रौढा, भद्र और परुषा।

शब्दालंकारों में अनुप्रास के बाद यमक का नाम आता है। यमक के प्रमुख दो भेद कर उनके कई उपभेद किए गए हैं। इस प्रकार यमक का एक वंशवृक्ष तैयार हो जाता है। शब्दालंकारों के प्रकरण में विभिन्न प्रकार के बन्धों का उल्लेख है परन्तु केवल इसका उल्लेख मात्र ही है। इसके लक्षण इस अध्याय में प्राप्त नहीं होते हैं।

अध्याय ३४४

इस अध्याय में अर्थालङ्कारों का वर्णन है। केवल आठ प्रमुख अर्थालंकार गिनाए गए हैं।[2] इनके भेद-प्रभेद से अन्य अनेक अलंकार बन जाते हैं। उपमा अलंकार सर्वप्रमुख है, क्योंकि यह अर्थालंकारों की आधारशिला है। अप्पय दीक्षित ने अपने ग्रन्थ चित्रमीमांसा में उपमा अलंकार का सर्वाधिक महत्त्व स्वीकार किया है। इस अध्याय में अविनाभाव का वर्णन किया गया है।

अध्याय ३४५

इस अध्याय में शब्दार्थालंकारों का वर्णन है, जो शब्द और अर्थ को समान रूप से अलंकृत करते हैं।[3] इनके मुख्य ६ भेद किए गए हैं—प्रशस्ति, कान्ति, औचित्य, संक्षेप, यावदर्थता और अभिव्यक्ति।

---

१. शब्दालङ्कार—शब्दालङ्कारादिलक्षणम्, अलंकाराणामनुप्रासादिकं चक्रबन्धगोमूत्रिकाद्यखिलबन्धाः।

२. अर्थालंकाराः सादृश्यालङ्काराः।

(अग्निपुराण का ३४४ वाँ अध्याय)

३. शब्दार्थालङ्काराः प्रशस्तीत्यादि भेदानां वर्णनम् तल्लक्षणम् च।

(अग्निपुराण का ३४५ वाँ अध्याय)

इन छः प्रमुख भेदों के अन्य उपभेद एवं प्रभेद किए गए हैं। इन्हीं उपभेदों में ध्वनि का वर्णन किया गया है। इस अध्याय में शैली एवं श्रुति के भेद से कतिपय भेद किए गए हैं।

अध्याय ३४६

इस अध्याय में काव्य के गुणों पर प्रकाश डाला गया है।[1] गुणहीन काव्य में अलंकार भार के समान हो जाता है। अतएव माधुर्य आदि गुणों का काव्य में होना आवश्यक है। जो साधन काव्य में महती शोभा लाता है, उसे गुण कहते हैं। इस प्रकरण में मुख्यतः तीन गुण गिनाए गए हैं।

मम्मटादि काव्यशास्त्रियों ने काव्य को "सगुण" कह कर गुणयुक्त होना अनिवार्य बतलाया है।[2] भोजराज ने सरस्वतीकण्ठाभरण में "गुणवत्" कह कर गुण के महत्त्व पर प्रकाश डाला है।[3]

अध्याय ३४७

काव्यशास्त्र-- सम्बन्धी इस अन्तिम अध्याय में काव्य के दोषों पर प्रकाशते डाला गया है। जो सहृदयों के मन में उद्वेग पैदा करते हैं, वे काव्य दोष कहलाते हैं।[4] आचार्य मम्मट ने काव्य के लिए "तददोषौ" कहकर तथा भोजराज ने "निर्दोष" कह कर इस मत की स्थापना की।

इस प्रकरण के अनुसार ये दोष वक्ता, वाचक और वाच्य भेद से सात प्रकार का होता है। इसमें प्रथम प्रकार का दोष कवि की ओर से होता है। अध्याय के अन्त में दोषों के परिमार्जन की व्यवस्था है। समयानुकूल दोष भी गुण बन जाते हैं, जैसे वीर और रौद्र रसों के प्रकरण में कटु वचनों का उल्लेख गुण बन कर आता है।

---

१. शब्दगुण, अर्थगुण और शब्दार्थगुण।

२. काव्यप्रकाश प्रथम उल्लास प्रथम कारिका।

३. सरस्वती-कण्ठाभरण—१/२

४. काव्यदोषविवेकः —तत्त्वानामुद्वेगजनकत्वादयः सप्तदोषाः असाधुत्वाप्रयुक्तत्वयोः पदनिग्रहत्वेन प्रतिपादनं तयोः शब्दशास्त्र विरुद्धत्वादसाधुतानिरूपणम्, छान्दसत्वादि,- विसृष्टत्वादि-- दोषकथनम्। तल्लक्षणम् विसन्धिदोषज्ञः।

(अग्निपुराण का ३४७ वां अध्याय)

अग्निपुराण वास्तव में विश्वकोष है। यद्यपि यह ग्रन्थ अधिक प्राचीन नहीं है, किन्तु इसमें प्राचीन परम्पराओं का पालन किया गया है। इसी कारण इस पुराण की सामग्री कुछ असंबद्ध सी है, किन्तु यह आलोचना निरपेक्ष है। इसमें अपने पूर्ववर्ती कवियों-- भरत, भामह, दण्डी और अन्य प्राचीन लेखकों के उद्धरणों से भी पूर्वोक्त बात सिद्ध होती है। अलंकार-सम्बन्धी विषय-वस्तु में भामह का अनुकरण स्पष्ट है।

अग्निपुराण अपनी विषय-- वस्तु के लिए भरत के नाट्यशास्त्र पर आश्रित है। इसमें भरत के नाम का उल्लेख है।[1] डा० एस० के० डे ने इस बात पर बल देते हुए लिखा है कि अग्निपुराण में भरत के नाम का उलेख तथा नाट्य; नृत्य, अभिनय और रस का अधिकांश विवेचन भरत की व्याख्या के इतने निकट है मानो भरत के कुछ पदों का शब्दशः उद्धरण देकर उनकी व्याख्या की गई है।[2]

डा० एस० डी० ज्ञानी ने इसकी विषय-- वस्तु के विषय में लिखा है कि वह भिन्न-भिन्न ग्रन्थों से ग्रहण की गई है और जहाँ आवश्यकता पड़ी है, इसे यथावत् अनुकरण किया गया है।[3]

अग्निपुराण की काव्य की परिभाषा काव्यादर्श की परिभाषा से बिल्कुल मिलती है। इसी प्रकार अलंकारों की परिभाषा दोनों स्थलों पर एक ही सी है। यदि हम कन्हैयालाल पोद्दार के मत को मान्यता दें, जिसके अनुसार अग्निपुराण का समय पाँचवीं या छठीं शताब्दी से पूर्व का है तब दण्डी ही अग्निपुराण का अनुकरण करने वाले माने जायेंगे। यदि अग्निपुराण का समय

---

१. अग्निपुराण—३४०/६ का उत्तरार्द्ध।

२. संस्कृत काव्यशास्त्र का इतिहास पृ० ९१

३. In the case of poetics, dramaturgy, Dharmaśastra, science of polity ... the author has not merely given a summary chapter by chaper but has tried to compress the subject matter in his own style, drawing material from one or more standard works on subjeet. Sometimes several verses have been borrowed verbatim from the original source. S. D. Gyani—Agni puran—A Study. Chapter I p. 39

दण्डी के बाद ११ वीं शताब्दी के आसपास माना जाये तो यह मानना पड़ेगा कि अग्निपुराण में विषयवस्तु का कुछ अंश दण्डी के काव्यादर्श से ग्रहण किया गया है। एस० के० डे ने लिखा है कि अग्निपुराण दण्डी के पश्चात् संकलित किया गया और अग्निपुराण पर काव्यादर्श की स्पष्ट छापा है।[1]

अग्निपुराण में रूपक, उत्प्रेक्षा, विशेषोक्ति, विभावना, अपह्नुति तथा समाधि अलंकारों के लक्षण भी काव्यादर्श से मिलते हैं।

अग्निपुराण की सामग्री संकलित करने में ध्वन्यालोक से भी सहायता ली गई होगी। आनन्दवर्धन के कुछ श्लोकों को उद्धृत किया गया है। अग्निपुराण में लिखा हैं कि इस अपार काव्यसंसार का एक मात्र प्रजापति कवि होता है तथा इसको विश्व में जैसा अच्छा लगता है, वह उसी प्रकार परिवर्तित कर देता है। कवि यदि श्रृंगारी होगा तो उसके काव्य में जगत् रसमय होगा परन्तु यदि कवि वीतराग होगा तो स्पष्ट ही काव्य नीरस होगा।[2] यही श्लोक आनन्दवर्धन के ध्वन्यालोक में यथावत् है।[3] ऐसा प्रतीत होता है कि ये श्लोक ध्वन्यालोक से उद्धृत किए गए हैं। अभिनवगुप्त ने अभिनवभारती में स्पष्ट रूप से "श्रृंगारी चेत्कविः" नामक श्लोक का रचयिता आनन्दवर्धन को माना है। यद्यपि ध्वन्यालोक का अनुशीलन करने पर ज्ञात होता है कि यह आनन्दवर्धन का स्वरचित कारिका नहीं है, अपितु उन्होंने "तथा चेदमुच्यते" कहकर उसे उद्धृत किया है।

अग्निपुराण को अलंकार- शास्त्र का प्रामाणिक ग्रन्थ मानकर उसको उद्धृत करने वाले सर्वप्रथम आलंकारिक विश्वनाथ कविराज हैं। अग्निपुराण को धर्मशास्त्र के विषय में प्रमाणभूत ग्रन्थ मानने वाले अद्भुतसागर के रचयिता बल्लाल सेन हैं। साहित्यदर्पण में तो कुछ भाग अग्निपुराण से यथावत् उद्धृत किये गए हैं। उदाहरण के लिए कथोद्घात की परिभाषा अग्निपुराण और साहित्यदर्पण में

---

१. संस्कृत काव्यशास्त्र का इतिहास—पृष्ठ ९२।

२. अपारे काव्य संसारे कविरेकः प्रजापतिः।
यथा वै रोचते विश्वं तथेदं परिवर्तते॥

श्रृंगारी चेत्कविः काव्ये जातं रसमयं जगत्।
स चेत्कविर्वीतरागो, नीरसं व्यक्तमेव तत्॥

(अग्निपुराण—३३९/१०-११)

३. ध्वन्यालोक तृतीय उद्योत पृष्ठ ३१२।

बिल्कुल समान है। जहाँ पर सूत्रधार के काव्य अथवा उसके कुछ अंश को कहता हुआ पात्र प्रवेश करे, । उसे कथोद्घात कहते हैं।[1] अग्निपुराण की वक्रोक्ति की परिभाषा रुद्रट की परिभाषा से साम्य रखती है।

इन तथ्यों को देखने से यह प्रतीत होता है कि अग्निपुराण की विषय- वस्तु मौलिक नहीं है, अपितु जहाँ से भी जो उद्धरणीय तथ्य मिले, उनको एक स्थान पर संकलित कर दिया गया है। पं० बलदेव उपाध्याय ने इस विषय पर अपनी सम्मति प्रकट करते हुए लिखा है कि इस अंश का लेखक साहित्य के किसी मौलिक सिद्धान्त का प्रतिपादक नहीं है प्रत्युत उसने इस भाग को उपयोगी बनाने के लिए अनेक प्राचीन आलंकारिकों के सिद्धांतों का संग्रहमात्र उपस्थित किया है।[2]

विष्णुधर्मोत्तर-पुराण

काव्यशास्त्रीय विषयवस्तु की दृष्टि से विष्णुधर्मोत्तर- पुराण का नाम अग्नि-पुराण के पश्चात् आता है। वैसे तो पुराणों की रचना धार्मिक विषयवस्तु के आधार पर हुई थी, इनका मुख्य उद्देश्य था धार्मिक कथाओं के रूप में सर्व-साधारण को पाप-पुण्य के सम्बध में सामान्य ज्ञान प्रदान करना, उनके हृदय में भगवान् की भक्ति का बीज बोना, सृष्टि रचना तथा प्राचीन राजवंशों का इति-हास बतलाना। इस दृष्टि से सभी पुराणों का स्थान प्राय: एक सा है, किन्तु काव्यशास्त्रीय विषय वस्तु के आधार पर विष्णुधर्मोत्तर पुराण अन्य पुराणों से अंशतः भिन्न है। अलंकारों का विवेचन, महाकाव्य के लक्षणादि, नाटक और इतिहास आदि के उपयोगी तत्वों के विवेचन के कारण विष्णुधर्मोत्तर पुराण भी आदिकाल से काव्यशास्त्रियों के पठनपाठन का विषय बना हुआ है। इसको भी संवाद की शैली में ग्रथित किया गया है। इसमें ऋषि मार्कण्डेय एवं राजा वज्र के संवाद हैं।

विष्णुधर्मोत्तर पुराण की ओर सर्वप्रथम पी० वी० काणे का ध्यान आकर्षित हुआ। उन्होंने प्रमाणित किया कि अग्निपुराण की भाँति विष्णुधर्मोत्तर पुराण

---

१. सूत्रधारस्य वाक्यं वा समादायार्थमस्य वा।
भवेत्पात्रप्रवेशश्चेत्कथोद्घातः स उच्यते॥
(अग्निपुराण—३३८/१५ तथा साहित्यदर्पण—६।३५)

२. संस्कृतसाहित्य का इतिहास पृष्ठ २२९।

में भी काव्यशास्त्र की महत्त्वपूर्ण सामग्री विद्यमान है। यह सामग्री इसके तृतीय खण्ड में प्राप्त होती है। डा० हाजरा विष्णुधर्मोत्तर पुराण को उपपुराण मानते हैं। इसके महत्त्व को वर्णित करते हुए वे इसे इनसाइक्लोपीडिया बतलाते हैं जिसमें विभिन्न विषयों का वर्णन है।[१] राजा वज्र की काव्य-सम्बन्धी तत्त्वों की जिज्ञासा का समाधान इसकी काव्यशास्त्रीय सामग्री है। इसमें निम्नलिखित क्रम से काव्यशास्त्रीय सामग्री का निबन्धन किया गया है। चौदहवें अध्याय में मार्कण्डेय और वज्र के संवाद के अन्तर्गत अनुप्रास, यमक, रूपक, श्लेष आदि अलंकारों की चर्चा है।[२] इसमें अग्निपुराण की भाँति लक्षण- निर्देश किए गए हैं।

पन्द्रहवें अध्याय में शास्त्र, इतिहास तथा काव्य और महाकाव्यों के लक्षण हैं।[3] इसमें शास्त्र की परिभाषा देते हुए लिखा है कि धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष का उपन्यास करने वाले ग्रन्थ शास्त्र कहलाते हैं। प्राचीन विद्वान् धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष के साधक शास्त्र का अनुशीलन करते हैं।[४] विष्णुधर्मोत्तर पुराण में इतिहास काव्य का सूक्ष्म अन्तर प्रदर्शित किया गया, जिसमें मोक्ष का वर्णन हो, उसे इतिहास कहते हैं तथा उपदेश से रहित होने पर उसे काव्य कहते हैं।[५]

---

1. This work is encyclopedic consisting of varied sudjects viz. cosmlohgy and cosmogony, Geography, Astronomy——metrics…… Phetorics, dramaturgy.
(Hazra, Puranic Records—Page—157)

२. अनुप्रासयमकरूपकश्लेषाद्यलंकार-कथनम्।
(विष्णुधर्मोत्तर पुराण तृतीय खण्ड अध्याय १४)

३. शास्त्रेतिहास- काव्यमहाकाव्यानां लक्षणवर्णनम्।
(विष्णुधर्मोत्तर पुराण तृतीय खण्ड—अध्याय १५)

४. धर्मार्थकाममोक्षाणां शास्त्रं स्यादुपदेशकम्।
पूर्वैश्चरितं सद्‌भिर्धर्मकामार्थसाधकम्॥
(विस्णुधर्मोत्तर-पुराण तृतीय खण्ड अध्याय १५/१)

५. मोक्षस्य यत्रोपन्यास इतिहासः स उच्यते।
तदेव काव्यमित्युक्तं चोपदेशं विना कृतम्॥
(विष्णुधर्मोत्तर-पुराण तृतीय खण्ड अध्याय १५/२)

सोलहवें अध्याय में प्रहेलिका के लक्षण तथा उसके भेद-- प्रभेद बतलाए गए हैं ।[1] पहेलियों का बूझना व बुझाना प्राचीन काल से प्रचलित था । राजमहलों से लेकर कुटी तक पहेलियों का प्रचार था । सम्राट् अवकाश के समय हास्यादि के लिए पहेलियाँ बुझाया करते थे, साथ ही कुशाग्र बुद्धि के छात्र भी परस्पर पहेलियों की चर्चा कर ज्ञान-पिपासा सन्तुष्ट करते थे । बाणभट्ट ने कादम्बरी में शूद्रक के चरित्र-वर्णन में लिखा है कि राजा क्रीडा-परिहास में चतुर अपने मित्रों से घिरा हुआ कभी अक्षरच्युतक, कभी मात्राच्युतक, कभी बिन्दुमती और कभी तीन पदों में छिपे हुए चौथे चरण वाली पहेलियों के आदान-- प्रदान से दिवस प्रारम्भ कर रात्रि व्यतीत कर देता था ।[2]

अन्य राजाओं की सभाओं में इसी प्रकार विविध प्रहेलिका– प्रसङ्ग चला करते थे । साहित्य की इस लोकप्रिय विधा को किसी अन्य पुराण ने काव्य शास्त्र में कोई महत्त्वपूर्ण स्थान नहीं दिया है । केवल दोषों के निराकरण में इसका नामोल्लेख किया गया है । किन्तु विष्णुधर्मोत्तर पुराण में इसका सम्यक् उल्लेख है । इस दृष्टि से भी विष्णुधर्मोत्तर पुराण का महत्त्व है ।

सत्रहवें अध्याय में कल्प, ब्राह्मण इत्यादि ग्रन्थों का परिचय दिया गया है । इसमें पुराणों के महत्त्व का वर्णन किया गया है और नाटक–नाटिका के प्रकार एवं भेद एवं विभेदों का विवेचन है । साथ ही प्रकरण-प्रकरणी, समवकार, ईहामृग आदि द्वादश रूपक लक्षण और नायक–नायकादि-भेद तथा श्रृंगार रस का वर्णन किया गया है ।[3] विष्णुधर्मोत्तर पुराण में श्रृंगार रस पर अधिक बल दिया गया है । अग्निपुराण में इसका महत्त्व सर्वोपरि प्रदर्शित किया

---

१. "प्रहेलिकालक्षणभेदकथनम्" ।

(विष्णुधर्मोत्तर पुराण तृतीय खण्ड अध्याय १६)

२. कदाचिदक्षरच्युतक-- मात्राच्युतकबिन्दुमतीगूढ-चतुर्थपाद- प्रहेलिकाप्रदानैभिः— — दिवसमेवमारब्धविविधक्रीडापरिहासचतुरैः सुहृभिरूपेतो निशामनैषीत् ।

(कादम्बरी पृष्ठ संख्या ३६)

३. मन्त्रब्राह्मणकल्पपुराणकथनपुरस्सरं नाटकनाटिकाप्रकरण— समवतारेहामृगाङ्कादि द्वादशरूपकलक्षणकथनपुरस्सरं नायक—नायिका भेद श्रृंगारादिरसवर्णनम् ।

(विष्णुधर्मोत्तर पुराण तृतीय खण्ड अध्याय १७)

गया है। इस प्रकरण में नवरसों का वर्णन कर फिर नाट्यप्रसंग में भी शृंगार रस का वर्णन किया है। रसराज को इतना महत्त्व देना समीचीन ही है।

बीसवें अध्याय में नाट्य, नृत्त, नृत्य, तथा लास्य इत्यादि के विषय में वर्णन है। तत्पश्चात् देव, दानव, नृप, उनके अनुचर तथा मुनि, ब्राह्मण, वणिक् इत्यादि के लक्षण और उन लोगों के अनुरूप वेशभूषा का विवेचन है। नाटक में इनके अभिनय का प्रकार तथा कटि और पाद की गति के विषय में उनके भेद--प्रभेद वर्णित किए गए हैं।[1]

इस अध्याय का नाटक की सज्जा की दृष्टि से महत्त्व है। विभिन्न चरित्रों का अभिनय करने वाले पात्रों की तदनुरूप वेशभूषा स्वभाविकता की सृष्टि करती है।

पच्चीसवाँ अध्याय नृत्य की चेष्टाओं से सम्बंधित है। रसों के अनुकूल अभिनय के प्रकार का इसमें वर्णन है। नृत्य में भौहों और पुतलियों के संचालन का प्रकार वर्णित है। इसी प्रकार नासिका, अधरोष्ठ इत्यादि अङ्ग--उपाङ्गों के अभिनय एवं संचालन के प्रकार का वणन है।[2] नाटक में पात्र के मुख से निकला हुआ वाक्य उसकी मुखमुद्रा के द्वारा भी बोधगम्य होता है।

छब्बीसवें अध्याय में नृत्य में भूमि पर हाथों के प्रयोग असंयुक्त और संयुक्त दो प्रकार के माने गए हैं। इन भेदों के साथ नृत्य में करसंचालन की विशेष प्रक्रिया का उल्लेख है।[3]

सत्ताइसवें अध्याय में अभिनय के चार प्रकारों पर प्रकाश डाला गया है। नाटक की कथावस्तु को अभिनय ही सम्मुख लाता है अभिनय, वाचिक, आहार्य, आङ्गिक और सात्त्विक भेद से चार प्रकार का होता है। इन प्रकारों

---

१. नाट्यनृत्तनृत्यलास्यमण्डलादि प्रदर्शनपूर्वकं देवदानवनृपतदनुजीविमुनि-विप्रवणिगादिलक्षण तदनुरूपवेशसात्त्विकाभिनय कटिपादाद्याश्रित-रेचक-चारी--महाचारी-- तन्मण्डलाङ्गहार-- तत्करणवृत्तवृत्त्यादिवर्णनम्।
(विष्णुधर्मोत्तर पुराण तृतीय खण्ड अध्याय २०)

२. रसदृष्टि तत्प्रयोगयुक्कर्मतारका कर्मसमसाचीकृतादि भेदेन, दृष्टिकर्म तद-नुगभ्रूकर्म नासिकाकर्म जिह्वाधरौष्ठदन्तकर्माद्युपांगकर्मवर्णनम्।
(विष्णुधर्मोत्तर पुराण, तृतीय खण्ड अध्याय २५)

३. असंयुत-संयुतादिभेदपुरस्सरं, नृत्ये करविन्यासः करकर्मलक्षणादिश्च।
(विष्णुधर्मोत्तर पुराण तृतीय खण्ड अध्याय २६)

के अतिरिक्त इसमें रंगमंच की सज्जा करने का विधान है। रंगमंच की सज्जा के अनुरूप अन्य नाट्योपकरणों का वर्णन है।[१]

अठाइसवें अध्याय में अभिनय के सामान्य नियमों की विवक्षा करते हुए अंगोपांगो के अभिनय के विभिन्न प्रकार पर बल दिया गया है। इष्ट और अनिष्ट--सूचक चेष्टा तथा शरीर को प्रसन्न करने वाली चेष्टाओं के अभिनय का निरूपण किया गया है।[२]

तीसवें अध्याय में श्रृंगार आदि नवरसों का वर्णन है। इसके पश्चात् मुख्य चार रसों से अन्य रसों को उत्पत्ति का वर्णन है। श्रृंगार से हास्य रस की रौद्र से करुण रस की, वीर से अद्भुत रस की तथा बीभत्स से भयानक रस की उत्पत्ति का वर्णन है। इसके पश्चात् रसों के रंग एवं उनके देवताओं का वर्णन है।

अग्निपुराण की भाँति विष्णुधर्मोत्तर पुराण की विषयवस्तु मौलिक नहीं है। यह भी एक विश्वकोष की भाँति अर्वाचीन पौराणिक ग्रन्थ है। काव्यशास्त्र की विवेचना को दृष्टि से यह अत्यन्त महत्त्वपूर्ण एवं उपयोगी ग्रन्थ है। डा० हाजरा भी इसे उपपुराण की श्रेणो में रखते हैं किन्तु इसकी महत्त्वपूर्ण विषयवस्तु को देखते हुए इसे पुराणों की श्रेणो में गिनना अधिक उचित है।

रचनाकाल

विष्णुधर्मोत्तर पुराण की रचना छठी शताब्दी के लगभग हुई होगी। इसकी पूर्ववर्ती एवं उत्तरवर्ती सीमाएं निम्नलिखित प्रकार से निर्धारित की गई हैं। इस पुराण में अलंकार शास्त्रीय सिद्धांतों के सम्बन्धवर्णन में बहुत कुछ भरत के नाट्यशास्त्र का अनुकरण किया गया है। अतएव भरत के नाट्य-शास्त्र की तुलना में इसे अधिक अर्वाचीन होना चाहिए। अग्निपुराण में नाट्यरूपकों के २७ प्रकार दिखलाए गए हैं परन्तु विष्णुधर्मोत्तर पुराण में केवल १२ हो प्रकार दिखलाए गए हैं। इससे यह सिद्ध होता है कि यह अग्निपुराण से प्राचीन है एवं इसके आधार पर ही अग्निपुराण में विस्तृत विवेचन किया गया है।

---

१. वाचिकाहार्याङ्गिकसात्विकभेदेन चतुःप्रकाराभिनय--वर्णनम्।
(विष्णुणर्मोत्तर पुराण तृतीय खण्ड अध्याय २७)

२. श्रृङ्गारादिनवरसकथनप्रसंगेन श्रृङ्गाराद्धास्यस्य रौद्रात्करुणरसस्य वीराद्भुतस्य, बीभत्साद् भयानकस्योत्पत्तिमभिधाय तत्तद्देवतावणभेदव्यंजनादि
(विष्णुधर्मोत्तर-पुराण तृतीय खण्ड अध्याय ३०)

इन पुराणों का रचना-काल अनुमान के आधार पर निर्णय किया जाता है, क्योंकि इनके निर्माण के विषय में कोई स्पष्ठ संकेत नहीं मिलता है। इससे प्राप्त होने वाली विभिन्न ऐतिहासिक सूचनाएँ भी प्रायः एक दूसरे से मेल नहीं खातीं, जबकि विषयसन्दर्भ एक ही होता है। फिर भी विद्वानों ने इनके निर्माण-काल को निश्चित करने के पर्याप्त प्रयास किए हैं। इन विद्वानों में राखाल-दास बैनर्जी, पी० के० आचार्य, डा० जायसवाल, पार्जिटर, लोकमान्य तिलक, सुशील कुमार डे, कन्हैया लाल पोद्दार और डा० हाजरा आदि प्रमुख हैं।



काव्य और उसके भेद

काव्य के लक्षण निर्धारित करने में मनीषी और समालोचक सतत निरत रहे हैं। अपने-अपने सिद्धान्त के अनुसार उन्होंने काव्य का स्वरूप निर्धारित किया है। विभिन्न विषयों के ज्ञान के लिए प्रायः पुराणों की ओर देखा जाता है। अतः काव्य के लक्षण के लिए भी पुराणों पर दृष्टिपात करना स्वाभाविक है। इस दृष्टि से अग्निपुराण का विशेष महत्त्व है। इसमें कहा गया है कि शास्त्र, इतिहास और काव्य तीनों वाङ्मय के अन्तर्गत आते हैं। शास्त्रों में शब्द प्रधान होते हैं, इतिहास और कथाग्रन्थों में इतिवृत्तात्मकता तथा काव्य में प्रतिभा की प्रधानता होती है।[१]

अरस्तू ने अपने काव्यकला-सम्बन्धी ग्रन्थ में काव्य को इतिहास से श्रेष्ठ बतलाते हुए उससे सार्वजनीन महत्त्व का प्रतिपादन किया है।[२]

यद्यपि प्रबन्ध काव्य में इतिवृत्त का अधिक महत्त्व है, तथापि उसका मुख्य आधार वाक्य है। इसलिए अग्निपुराण में इष्ट अर्थो से युक्त पदों के समूह को वाक्य कहा गया है।[3] दण्डी ने काव्य की परिभाषा अग्निपुराण के

---

१. ध्वनिर्वर्णः पदं वाक्यमित्येतद् वाङ्मयं मतम् ॥
शास्त्रे शब्दप्रधानात्वमितिहासेषु निष्ठता ॥
अभिधायाः प्रधानत्वात्काव्यं ताभ्यां विभिद्यते ।
(अग्निपुराण—अध्याय ३३७, श्लोक १, २ का उत्तरार्द्ध एवं ३ का पूर्वार्द्ध)

२. Hence poetry is something more Philosophical and graver than history. Hence its statments are of the nature rather of unversasl whereas those of history are singulars.

(On the Art of Poetry—page 43)

३. संक्षेपाद्वाक्यमिष्टार्थव्यवच्छिन्ना पदावली ।

(अग्निपुराण—३३७/का पूर्वार्द्ध)

समान ही दी है ।[१] विश्वनाथ ने साहित्यदर्पण में रसात्मक वाक्य को काव्य कहा है ।[२]

चन्द्रालोक में जयदेव ने अलङ्कार के विना काव्य-कल्पना को असम्भव बतलाया है। अलंकार के विना काव्य की कल्पना शीतल अग्नि के समान निराधार है। काव्य को दोषों से रहित, लक्षणों से युक्त, रीति और गुण से सुसज्जित तथा अलंकारों से युक्त होना चाहिए। लक्षण निम्नलिखित हैं[३]—

मम्मट ने काव्य का दोषों से रहित और गुणों से युक्त होना अधिक महत्त्व-पूर्ण माना है। उसमें अलंकार भी यदा कदा हो सकते हैं।[४] यद्यपि काव्य की यह परिभाषा सारगर्भित है तथापि अलङ्कार-प्रधान आचार्यों ने उसे अधिक मान्यता प्रदान नहीं की है। अग्निपुराण में भी काव्य में अलंकार की अनि-वार्यता को स्वीकार किया गया है।[५]

काव्य का महत्त्व बतलाते हुए आचार्य मम्मट ने उसके छः उपयोगों का उल्लेख किया है। वे हैं यश, धनप्राप्ति, व्यवहार-ज्ञान, अशुभ का निवारण, तत्काल परानन्द तथा कान्तासम्मित उपदेश।[६] विष्णुधर्मोत्तरपुराण में काव्य का

---

१. शरीरं तावदिष्टार्थव्यवच्छिन्ना पदावली ।
(काव्यादर्श—१/१० वाँ श्लोक)

२. वाक्यं रसात्मकं काव्यम् ।
(साहित्यदर्पण—१/पृ० २३)

३. निर्दोषा लक्षणवती सरीतिर्गुणभूषणा ।
सालङ्काररसानेकवृत्तिर्वाक्काव्यनामभाक् ॥
अङ्गीकरोति यः काव्यं शब्दार्थावनलङ्कृति ।
असौ न मन्यते कस्मादनुष्णमनलङ्कृति ॥
(चन्द्रालोक—१/पृ० २३)

४. तददोषौ शब्दार्थौ सगुणावनलङ्कृति पुनः क्वापि ।
(काव्य प्रकाश—१/१ कारिका)

५. काव्यं यशसेऽर्थकृते व्यवहारविदे शिवेतरक्षतये ।
सद्यः परनिर्वृतये कान्तासम्मितयोपदेशयुजे ॥
(काव्य-प्रकाश—१/२ श्लोक)

६. काव्यं स्फुरदलङ्कारं गुणदोषवर्जितम् ।
(अग्निपुराण—३३७/७)

लक्षण देते हुए लिखा गया है कि जहाँ पर मोक्ष इत्यादि का उपन्यास किया जाता है, उसे तो इतिहास कहते हैं किन्तु जहां नायक और प्रतिनायक के चरित्र का वर्णन हो उसे काव्य कहते हैं।[1]

पण्डितराज जगन्नाथ ने रसगंगाधर में काव्य की सारगर्भित परिभाषा दी है। उनके अनुसार रमणीयार्थ प्रतिपादक शब्द काव्य है। रमणीयता किस प्रकार की हो अथवा विद्वानों को इसके विषय में किसी प्रकार की विप्रतिपत्ति न रहे, इस उद्देश्य से पण्डितराज ने अपने कथन को और भी स्पष्ट कर दिया है। उनके अनुसार जिसके ज्ञान से लोकोत्तर आनन्द की प्राप्ति हो वह अर्थ रमणीय है।[2-3]

वक्रोक्तिकार आचार्य कुन्तक ने अपने प्रसिद्ध "वक्रोक्तिजीवितम्" में काव्य की परिभाषा देते हुए उसका अलंकारयुक्त होना आवश्यक बतलाया है।[4] अलंकार काव्य के नियत धर्म हैं, आहार्य नहीं। वे अलंकृत वाक्यावली को ही काव्य का नाम देते हैं। आगे उन्होंने स्पष्ट करते हुए लिखा है कि अर्थ से युक्त होने पर भी कवि का वक्रव्यापार से युक्त काव्य ही विद्वानों के चित्त में आह्लाद उत्पन्न करता है।[5]

---

१. मोक्षस्य यत्रोपन्यास इतिहासः स उच्यते।
तदेव काव्यमित्युक्तं चोपदेशं विना कृतम्॥
एकस्य चरितादेव तथा काव्यं प्रकीर्तितम्।
निबद्धो यत्र राजेन्द्र नायकप्रतिनायकौ॥

(विष्णुधर्मोत्तरपुराण—१५/३)

२. रमणीयार्थप्रतिपादकः शब्दः काव्यम्।

रसगंगाधर प्रथम आनन

३. रमणीयता च लोकोत्तराह्लादजनकज्ञानगोचरता।

रसगंगाधर—प्रथम आनन/पृ० १०

४. — — — —सालङ्कारस्य काव्यता।

वक्रोक्तिजीवितम्—१/६ कारिका का अंतिम पद

५. शब्दार्थौ सहितौ वक्रकविव्यापारशालिनी।
बन्धे व्यवस्थितौ काव्यं तद्विदाह्लादकारिणी॥

वक्रोक्तिजीवितम्—१।७

अग्निपुराण में लिखा है कि कवि वास्तव में अपनी अनिर्वचनीय प्रतिभा के बल पर लोक को आनन्दित करता है तथा अपनी इच्छानुसार उसमें परिवर्तन करता है। यही बात अक्षरशः ध्वन्यालोक में भी मिलती है।[१]

अरस्तू के अनुसार कवि का कार्य यथावत् वर्णन करना नहीं है, अपितु उसका उद्देश्य आदर्श स्थितियों का वर्णन करना है।[२]

काव्य की प्राप्ति को दुर्लभ बतलाते हुए अग्निपुराण में लिखा है कि वैसे तो मनुष्य का शरीर प्राप्त करना ही दुर्लभ है, किन्तु उसके बाद विद्या और काव्यत्व प्राप्त करना तो और भी दुर्लभ है।[3] कुन्तक के अनुसार काव्यमर्मज्ञों के हृदय को आह्लादित करने वाले वक्रतायुक्त वाक्य जो लावण्यादि गुणों से भरपूर हों तथा अलंकारों से युक्त हों तथा सहृदयों को आनन्ददायक हों, काव्य कहलाते हैं।[४]

काव्य के महत्व का प्रतिपादन करने के पश्चात् काव्य के भेदों पर विचार किया गया है। काव्य के तीन विधायें हैं--गद्य, पद्य तथा चम्पू। दण्डी ने काव्य के इन तीनों प्रकार का अनुमोदन किया है।[५]

---

१. अपारे काव्यसंसारे कविरेकः प्रजापतिः।
यथा वै रोचते विश्वं तथेदं परिवर्तते ॥

अग्निपुराण—३३९।१० तथा ध्वन्यालोक—३।२

२. The poet's function is to describe not the things that have happened, but a kind of thing that might happen.

On the Art of Poetry—Page 48

३. नरत्वं दुर्लभं लोके, विद्या तत्र सुदुर्लभा।
व्युत्पत्तिदुर्लभा तत्र विवेकस्तत्र दुर्लभः ॥

अग्निपुराण-३३७।३

४. धर्मादि-साधनोपायः सुकुमारक्रमोदितः।
काव्यबन्धोऽभिजातानां हृदयाह्लादकारकः ॥

वक्रोक्तिजीवितम्—१।३

५. गद्यं पद्यं च मिश्रं च तत् त्रिधैव व्यवस्थितम्।

काव्यादर्श—१।११

पद्य के बन्धन से मुक्त पदसमूह गद्य कहलाता है। इसमें यदि यति और लय का बन्धन नहीं होता है। पद्य की अपेक्षा इसमें रमणीयता उत्पन्न करना दुष्कर होता है। अतएव "गद्यं कवीनां निकषं वदन्ति" कहकर गद्य का महत्व स्वीकार किया है। गद्य भी तीन प्रकार का होता है—चूर्णक, उत्कलिका और वृत्तगन्धि। अग्निपुराण में ये तीन भेद स्वीकार किए गए हैं।[1]

दण्डी ने गद्य की यही परिभाषा दी है किन्तु उन्होंनेउ सके दो भेद और किए हैं। कथा और आख्यायिका।[2] चूर्णक नामक गद्य में समासों का प्रयोग अत्यल्प होता है। इसमें कठोर शब्दावली का प्रयोग होता है। इसीलिए यह वीर और रौद्ररस के योग्य होता है। अग्नि पुराण के अनुसार जो गद्य अत्यल्प समास से संयुक्त हो और जिसमें कर्कश शब्दावली के प्रयोग हो, उसे चूर्णक गद्य कहते हैं।[3]

उत्कलिका नामक गद्य के प्रकार में लम्बे-लम्बे समासयुक्त वाक्य होते हैं। अग्निपुराण में उत्कलिका और वृत्तसन्धि की मिली-जुली परिभाषा दी गई है- जिसके अनुसार जिस गद्य में लम्बे-लम्बे समास हों, उसे उत्कलिका गद्य कहते हैं किन्तु उसके विपरीत वृत्तगन्धि में समास बहुत प्रौढ़स्तर के नहीं होते हैं। इसकी शब्दावली भी न तो बहुत कर्कश होती है और न बहुत कोमल।[4]

गद्य के अत्यधिक महत्त्व को स्वीकार करते हुए अग्निपुराण में गद्य के पाँच प्रकार बतलाए गए हैं। आख्यायिका, कथा, खण्डकथा, परिकथा तथा

---

१. अपदः पदसन्तानो गद्यं तदपि गद्यते।
चूर्णकोत्कलिका वृत्तगन्धिभेदात् त्रिरूपकम्॥
अग्निपुराण—३३७।९

२. अपादः पदसन्तानो गद्यमाख्यायिका कथा।
इति तस्य प्रभेदौ द्वौ तयोराख्यायिका किल॥
काव्यादर्श—१।२३

३. अल्पाल्य-विग्रहं नातिमृदुसन्दर्भनिर्भरम्।
चूर्णकं नामतो दीर्घसमासोत्कलिका भवेत्॥
अग्निपुराण—३३७।१०

४. भवेन्मध्यमसन्दर्भं नातिकुत्सितविग्रहम्।
वृत्तच्छायाहरं वृत्तगन्धि नैतत्किलोत्कटम्॥ (अग्निपुराण—३३७।११)

कथानिका ।[1] आख्यायिका गद्य का एक लोकप्रिय रूप है। इसके निबन्धन में पहले गद्यकाव्य के प्रणेता का वंश-परिचय रहता है। कवि-परिचय के बाद वर्णन प्रसंग में वियोगजन्य परिस्थितियों का अधिक वर्णन होता है, जैसे कन्याहरण से उत्पन्न विपत्ति अथवा संग्राम के परिणामस्वरूप होने वाला विप्रलम्भ इत्यादि। इसमें रीति और वृत्तियाँ भी अपने चमत्कृत रूप में उपस्थित होती हैं। इसके कथा भागों को उच्छ्‌वास कहा जाता है। आख्यायिका में चूर्णक नामक गद्य का अधिक प्रयोग किया जाता है। इसमें कथानायक के मुख से कही जाती है तथा आवश्यकता पड़ने पर अन्य पात्र के मुख से भी कहलाई जा सकती है।[2]

दण्डी ने काव्यादर्श में कथा और आख्यायिका में कुछ भी भेद नहीं किया है। उनके मतानुसार नायक अपने मुख से कथा कहे अथवा अन्य मुख से कहलाए, है तो वास्तव में सब कथा ही।[3]

ध्वन्यालोककार ने लिखा है कि यदि आख्यायिका में विप्रलम्भ शृंगार अथवा करुण रस का निबन्धन हो तो प्रवाह बना रहने के लिए अतिदीर्घसमासयुक्त रचना नहीं होना चाहिए। इसी प्रकार नाटक में रौद्र और वीर रस के प्रकरण में दीर्घ समासयुक्त पदावली का प्रयोग नहीं होना चाहिए।[4] अन्य रसों

---

२. आख्यायिका कथा खण्डकथा परिकथा तथा।
कथानिकेति मन्यन्ते गद्यकाव्यं च पंचधा ॥ (अग्निपुराण–३३७।१२)

३. कर्तृवंशप्रशंसा स्याद्यत्र गद्येन विस्तरात्।
कन्याहरणसंग्राम—विप्रलम्भविपत्तयः ॥
भवन्ति यत्र दीप्ताश्च रीतिवृत्तप्रवृत्तयः।
उच्छ्‌वासैश्च परिच्छेदो यत्र या चूर्णकोत्तरा ॥
वक्त्रं वापरवक्त्रं वा यत्र साऽऽख्यायिका स्मृता।
श्लोकैः स्ववंशं संक्षेपात्कविर्यत्र प्रशंसति ॥
(अग्निपुराण—३३७।१३, १४, १५)

४. तत् कथाऽऽख्यायिकेत्येका जातिसंज्ञाद्वयांकिता।
अत्रैवान्तर्भविष्यन्ति शेषाश्चाख्यानजातयः ॥ (काव्यादर्श—१ २८)

१. गद्यबन्धेपि अतिदीर्घसमासा रचना न विप्रलम्भशृंगारकरुणयोराख्यायिकायामपि शोभते। नाटकादावप्यसमासैव सङ्घटना रौद्रवीरादिवर्णने विषयापेक्षं त्वौचित्यं प्रमाणतोपकृष्यते प्रकृष्यते च।
ध्वन्यालोक—३।पृ० १८७

के सन्दर्भ में आनन्दवर्धन ने स्वयं स्वीकार किया है कि आख्यायिका में मध्य और दीर्घसमास रचना होनी चाहिए, क्योंकि गद्य में विकटबन्ध से उत्कर्ष उत्पन्न हो जाता है।[1]

कथा में भी कथाकार पहले संक्षेप में अपने वंश का वर्णन करता है। यद्यपि आख्यायिका में भी कवि द्वारा अपनी वंश-प्रशंसा की जाती है तथापि आख्यायिका में उसका विस्तार से वर्णन होता है और कथा में संक्षिप्त रूप से। अग्निपुराण में लिखा है कि कथा में मुख्य कथा को लाने के लिए अवान्तरकथा की सृष्टि करनी पड़ती है जिससे मुख्य कथा अधिक सुबोध हो जाती है।[२] विश्वनाथ ने कथा के विषय में लिखा है कि सरसवस्तु को गद्य में निबण्धन करना कथा है।[3] यदि किसी गद्य में कथा और आख्यायिका का मिश्रित स्वरूप होता है तो उसे परिकथा कहते हैं। इसमें कथा नायक के मुख से ही कहलाई जा सकती है और अन्य पात्र के मुख से भी। इसमें भी कथा के समान करुणरस प्रधान होना चाहिए। अग्निपुराण में भी कथा और आख्यायिका के मिश्रित स्वरूप को परिकथा स्वीकार किया गया है।[४]

अग्निपुराण में इन भेदों के अतिरिक्त कथानिका नामक भेद स्वीकार किया है। गद्यकाव्य का यह भेद अन्य आचार्यों ने स्वीकार नहीं किया है। दण्डी गद्यकाव्य के समस्त प्रकारों को कथा और आख्यायिका में ही समाहित मानते

---

१. आख्यायिकास्तु भूम्ना मध्यसमासादीर्घसमासे एव सङ्घटने।
यद्यस्य विकटबन्धाश्रयेण छायात्वात्।

ध्वन्यालोक—३ पृ० १८६

२. मुख्यस्यार्थस्यावताराय भवेद्यत्र कथान्तरम्।
परिच्छेदो न यत्र स्याद् भवेद्वा लम्बकैः क्वचित्॥
सा कथा नाम तद्गर्भे निबन्धनीयाच्चतुष्पदीम्।
भवेत्खण्डकथा याऽसौ कथा परिकथा तयोः॥

अग्निपुराण—३३७।१६ एवं १७

३. कथायां सरसं वस्तु गद्यैरेव विनिर्मितम्।

साहित्यदर्पण—६।३३२

४. कथाख्यायिकयोर्मिश्रभावात्परिकथा स्मृता॥

अग्निपुराण—३३७।१९

हैं। उनका तो कथन है कथा और आख्यायिका भी एक ही वस्तु के दो नाम हैं। अतएव गद्य के अन्य उपभेद करने की कोई आवश्यकता नहीं हैं।[1] अग्निपुराण में लिखा है कि कथानिका में गद्यकाव्य का केन्द्रीभूत विषय यद्यपि अधिक उदात्त नहीं होता है तथापि कथावस्तु सुनियोजित होती है। इसमें प्रारम्भ में सुख परक भयानक रस, मध्य में करुण रस और अन्त में अद्‌भुत रस का पारिपाक होता है।[2]

पद्य का स्वरूप

गद्य के समान अग्निपुराण में पद्य के भेद वर्णित किए गए हैं। पद्यमय काव्य के दो भेद होते हैं। वृत्त और जाति। जहाँ पर पद्यों में केवल नियमानुसार अक्षरों की गणना की जाती है, उसे वृत्त या छन्द कहते हैं। परन्तु जहाँ मात्राओं की गणना की जाती है, उसे जातिछन्द कहते हैं। अग्निपुराण तथा काव्यादर्श में छन्द का महत्त्व बतलाते हुए लिखा है कि छन्दः शास्त्र का ज्ञान काव्यरूपी गम्भीर सागर को पार करने में नौका की भाँति सहायक होता है।[3]

अग्निपुराण में पद्य के निम्नलिखित सात भेद किए गए हैं महाकाव्य, कलाप, पर्याबन्ध, विशेषक, कुलक, मुक्तक तथा कोष।[4] यद्यपि काव्य के यह सात भेद हैं तथापि काव्य के इन भेदों में महाकाव्य नामक भेद सबसे लोकप्रिय है। महाकाव्य के लक्षण प्रायः सभी आचार्यों ने किए हैं। विष्णुधर्मोत्तरपुराण

---

१. तत् कथाऽऽख्यायिकेत्येका जातिः संज्ञा द्वयांकिता।
अत्रैवान्तर्भविष्यन्ति शेषाश्चाख्यानजातयः॥

काव्यादर्श—१।२८

२. भयानकं सुखपरं गर्भे च करुणो रसः।
अद्‌भुतोऽन्ते सूक्लृप्तार्थो नोदात्ता सा कथानिका॥

अग्निपुराण—३३७।२०

३. सा विद्या नौस्तितीर्षूणां गम्भीरं काव्यसागरम्।

अग्निपुराण—३३७।२० तथा
काव्यादर्श—१।१२ का उत्तरार्द्ध

४. महाकाव्यं कलापश्च पर्याबन्धो विशेषकम्।
कुलकं मुक्तकं कोष इति पद्यकुटुम्बकम्॥

अग्निपुराण—३३७।२३

में महाकाव्य के लक्षण दिए गए हैं किन्तु ये लक्षण कुछ अपूर्ण से हैं और अधिक साङ्गोपाङ्ग नहीं हैं। उसके अनुसार जिस काव्य में नायक का उत्कर्ष दिखलाया जाता है तथा नायक के उत्थान से सम्बन्धित युद्धादि का वर्णन हो, उसे महाकाव्य कहते हैं। इसमें युद्ध के लिए तैयार सेना, युद्धरत सेना और युद्ध के दृश्यों का वर्णन होता है। महाकाव्य में देश की स्थिति का तथा राजा इत्यादि का वर्णन होना चाहिए। साथ ही साथ ऋतु, पर्वत, नदी आदि प्राकृतिक दृश्यों का वर्णन होना चाहिए। नायक के चरित्र का सर्वाधिक प्रभाव पड़ता है। अतएव उसके चरित्र को बहुत उदात्त दिखलाना चाहिए। नायक को कर्मविजयी तथा सत्पथ पर आश्रित तथा लोकविजयी प्रदर्शित करना चाहिए। महाकाव्य के नायक का गौरव बनाए रखने के लिए केवल प्रतिनायक के साथ ही उसका घात-प्रतिघात प्रदर्शित करना चाहिए।[1]

नाटक की तरह महाकाव्य में नायक का मरण कभी भी प्रदर्शित नहीं करना चाहिए। महाकाव्य में छन्द से विरहित पद्य का, गद्य का तथा शब्दशास्त्र विरोधी वर्णनों का प्रयोग नहीं होना चाहिए। काव्यबन्ध में अप्रसिद्ध शब्दों के प्रयोग तथा शब्दों की पुनरुक्ति से बचना चाहिए। परन्तु किन्हीं विशिष्ट स्थितियों में पुनरुक्ति का प्रयोग श्रेयस्कर माना जाता है, जैसे विस्मय, असूया, भय, शोक, हर्ष तथा शीघ्रता। इसमें वीप्सा या द्विरुक्ति अवश्य होनी चाहिए। ऐसे समय में इसे दोष नहीं माना गया है। इसी प्रकार दूतवाक्य में,

---

१. प्रयाणोद्यत-सम्प्रेषयुद्धयुक्तं तदेव तु।
नायकाभ्युदयोपेतं महाकाव्यं तदिष्यते ।।
वर्णयेच्च महाकाव्ये देशपत्तनपार्थिवान्।
ऋत्वद्रिनिम्नगाश्चैव तथा नारीश्च पार्थिव ।।
वर्णनीयौ तथैवात्र नायकप्रतिनायकौ।
नायको धर्मविजयी सताम्पन्थानमाश्रितः
तथा च लोकविजयी विज्ञेयः प्रतिनायकः।
प्रतिनायकघातस्तु वक्तव्यो नेतरस्य तु ।।

विष्णुधर्मोत्तरपुराण—१५।४ से ७

स्वप्न में, अचानक कार्य के उत्पन्न हो जाने पर पुनर्वचन का निर्देश है ।[1]

महाकाव्य में संशय से युक्त वचनों का, पूर्वापर विरुद्ध वचनों का तथा लोक विगर्हित बातों का वर्णन नहीं होना चाहिए । महाकाव्य में कुछ अंग रसों का वर्णन कर पश्चात् सभी रसों का जैसे श्रृंगार, हास्य, करुण, रौद्र, वीर, भयानक, वीभत्स, शान्त तथा अद्भुत रसों का साङ्गोपाङ्ग वर्णन होना चाहिए । महाकाव्य को कलाकौशल तथा धर्म और अर्थ से युक्त होना चाहिए । विष्णुधर्मोत्तर पुराण में नायक के अभ्युदय पर विशेष बल देते हुए लक्षणों के अन्त में फिर लिखा है कि महाकाव्य में नायक के उत्तम कार्य तथा अभ्युदय को प्रदर्शित करना चाहिए ।[2]

अग्निपुराण के अनुसार महाकाव्य का विभाजन सर्गों में होता है तथा

---

१. नायकस्य महाराज मरणं नैव वर्णयेत् ।
सशरीरस्य यस्य स्यात्सम्प्राप्तिस्तस्य वर्णयेत् ।।
छन्दोविरहितं गद्यं शब्दशास्त्रविरोधि च ।
कष्टाक्षरपदन्यासमश्लीलवचनान्वितम् ।।
तस्यादुल्लक्ष्यवाक्यार्थमप्रसिद्धाभिधानवत् ।
काव्यबन्धं न कर्त्तव्यं पुनरुक्तं न यद्भवेत् ।।
विस्मये वाप्यसूयायां भयशोकत्वरासु च ।
हर्षे च वीप्सा कर्त्तव्या पुनरुक्तं न तद्विदुः ।
दूतवाक्ये तथा स्वप्ने, कार्यगत्या तथागते ।
पुनर्वचननिर्देशे पुनरुक्तं न तद्विदुः ।।
विष्णुधर्मोत्तर पुराण—१५।८ से १२ तक

२. ससंशयं न वक्तव्यं प्रतिज्ञारहितं तथा ।
पूर्वापरविरुध्दं च यच्च लोकविगर्हितम् ।।
श्रृंगारहास्यकरुणं, रौद्रवीरभयानकैः ।
बीभत्साद्भुतशान्ताख्यैं रसैः कार्यसमन्वितम् ।।
काव्यं कलाकौशलसंप्रयुक्तं
धर्मेण चार्थेन तथोपपन्नम् ।
धर्मेण युक्तस्य च नायकस्य,
कार्यं तथा चाभ्युदयान्तमेव ।।
विष्णुधर्मोत्तर पुराण—१५'८ से १५ तक

इसका आरम्भ संस्कृत से होता है। महाकाव्य का इतिवृत्त इतिहास की कथा से सम्बन्धित हो अथवा जनश्रुति से चली आने के कारण पहले से ही प्रचलित किसी कथा से सम्बन्धित हो। इसमें मन्त्रणा दूतप्रेषण और युद्धादि का साङ्गोपाङ्ग वर्णन होना चाहिए, किन्तु कवियों को अतिविस्तार से बचना चाहिए।

महाकाव्य को शक्वरी, अतिशक्वरी, अतिजगती, त्रिष्टुप् पुष्पिताग्रा तथा वक्त्रादि छन्दों से समन्वित होना चाहिए। सर्ग के अन्त में छन्द बदल देना चाहिए। इसमें मात्रिक छन्दों का भी प्रयोग होना चाहिए। महाकाव्य के सर्ग न अति संक्षिप्त हों और न ही अति विस्तृत। महाकाव्य में यथा सम्भव प्रत्येक प्रकार के वर्णन को स्थान देना चाहिए, जैसे नगर, समुद्र, पर्वत और ऋतु वर्णन इत्यादि। इसमें सज्जनों की निन्दा की पद्धति का त्याग करना चाहिए।[1]

अग्निपुराण के अनुसार महाकाव्य में प्रातः, सन्ध्या, रात्रि इत्यादि के वर्णन के साथ ही साथ पादप, उद्यान, जलक्रीड़ा एवं मदिरापन इत्यादि का वर्णन होना चाहिए। इसमें कुलटाओं के आश्चर्यजनक चरित्र का चित्रण होना चाहिए। इसमें लोकोत्तर तत्त्व भी सम्मिलित होने चाहिए, जैसे प्रमाद, अन्धकार तथा सचण्ड पवन इत्यादि। महाकाव्य का कथानक-वर्णन तीनों प्रकार की रीतियों, वैदर्भी, गौड़ी और लाटी से परिपूर्ण होनी चाहिए। महाकव्य को भावों से

---

१. सर्गबन्धो महाकाव्यमारब्धं संस्कृतेन यत्।
तादात्म्यजत्तत्त तत्समं नाति दुष्यति॥
इतिहासकथोद्भूतमितरद् वा सदाश्रयम्।
मन्त्रदूतप्रयाणाजिनियतं नातिविस्तरम्॥
शक्वर्याऽतिजगत्याऽतिशक्वर्या त्रिष्टुभा तथा।
पुष्पिताग्रादिभिर्वक्त्राभिजनैश्चाभिः समैः॥
युक्ता तु भिन्नवृत्तान्ता नातिसंक्षिप्तसर्गकम्।
अतिशक्वरिकाष्टभ्योमेकसंकीर्णकैः परः॥
मात्रयाऽप्यपरः सर्गः प्राशस्त्येपु च पश्चिमः॥

अग्निपुराण—२४ से २८ तक

परिपूर्ण, रसों से युक्त तथा अलंकारों से पुष्ट होना चाहिए ।[1]

यद्यपि विष्णुधर्मोत्तर पुराण एवं अग्निपुराण दोनों में महाकाव्य के लक्षणों का वर्णन है, तथापि अग्निपुराण का वर्णन अधिक समीचीन है। द्रष्टव्य है कि अग्निपुराण के लक्षण कविराज विश्वनाथ के साहित्यदर्पण के लक्षण से बहुत मिलते-जुलते हैं ।

दण्डी ने महाकाव्य के लक्षणों पर प्रकाश डालते हुए लिखा है कि महाकाव्य सर्गों में विभाजित होता है । इसमें सबसे पहले आशीर्वाक्य या नमस्क्रिया होती है और कथाभाग का निर्देश किया जाता है । महाकाव्य को कथा इतिहास की कथा पर आधारित होना चाहिए, अथवा सत्पुरुष की कथा का आश्रय लेकर धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष की सिद्धि का वर्णन होना चाहिए । इसमें चतुर और उदात्त नायक को कथा वाला मुख्य पात्र होना चाहिए और नगर, समुद्र, पर्वत, ऋतुओं, चन्द्रोदय, तथा सूर्योदय, एवं चन्द्रास्त एवं सूर्यास्त का वर्णन होना चाहिए । प्रकृति के इन वर्णनों के साथ-साथ उद्यान-विहार, जलक्रीड़ा, मधुपान, और प्रेम-प्रसंगों का वर्णन होना चाहिए ।[2]

---

१. कल्पोऽतिनिन्दितस्तस्मिन्विशेषानादरः सताम् ।
नगरार्णवशैलर्तु चन्द्रार्काश्रमपादपैः ।।
उद्यानसलिलक्रीडामधुपानरतोत्सवैः ।
दूतीवचनविन्यासैरसतीचरिताद्भुतैः ।।
तमसा मरुताऽप्यन्यैर्विभावैरतिनिर्भरैः ।
सर्ववृत्तिप्रवृत्तं च सर्वभावप्रभावितम् ।।
सर्वरीतिरसैः स्पृष्टं पुष्टं गुणविभूषणैः ।
अतएव महाकाव्यं तत्कर्ता च महाकविः ।।
वाग्वैदग्ध्यप्रधानेऽपि रस एवात्र जीवितम् ।
पृथक्प्रयत्ननिर्वर्त्यं, वाग्विक्रमाणि रसाद्वपुः ।।अ०पु०-३३७।२६ से ३३ तक

२. सर्गबन्धो महाकाव्यमुच्यते तस्य लक्षणम् ।
आशीर्नमस्क्रियावस्तुनिर्देशो वापि तन्मुखम् ।।
इतिहासकथोद्भूतमितरद्वा सदाश्रयम् ।
चतुर्वर्गफलायत्तं चतुरोदात्तनायकम् ।।
नगरार्णवशैलर्तुचन्द्रार्कोदयवर्णनैः ।
उद्यानसलिलक्रीडामधुपानरतोत्सवैः ।। काव्यादर्श—१।१४ से १६ तक

काव्य में विप्रलम्भ शृङ्गार का वर्णन अवश्य होना चाहिए, क्योंकि बिना विप्रलम्भ के शृंगार की पुष्टि नहीं होती है। विवाह का वर्णन राजकुमारों की उत्पत्ति का वर्णन, राजा का मन्त्रियों के साथ मन्त्रणा, शत्रु को जीतने के लिये अपने प्रधान पुरुषों के साथ गुप्तसम्भाषण आदि दिखलाना चाहिए। इसमें सन्देश-प्रेषण, विजय-यात्रा इत्यादि के साथ नायक का अभ्युदय दिखलाना चाहिये। महाकाव्य के सर्गों में भिन्न-भिन्न वृत्तान्त और घटनाओं का वर्णन होना चाहिए। प्रत्येक सर्ग के अन्त में दूसरे प्रकार के वृत्त का उपयोग किया जाये। महाकाव्य में यथायोग्य अलंकारों का वर्णन होना चाहिए। ऐसा काव्य कल्पान्तरस्थायी कीर्ति का साधन बनता है।[1]

उपर्युक्त लक्षणों को गिनाने के बाद दण्डी ने यह भी लिखा है कि महाकाव्य के लिये जितने भी वर्णनीय विषय बतलाये गये हैं, उसमें यदि कोई न्यूनता भी रह जाय परन्तु श्रोता और अध्येता यदि रस पुष्टि का अनुभव करते हों तो काव्य दूषित नहीं होता है।[2]

यद्यपि महाकाव्य में विविध वाक्कौशल की प्रधानता होती है तथापि काव्य की आत्मा तो रस है, अतः कवि को व्यर्थ के वाक्कौशल को छोड़कर महाकाव्य के कलेवर को रससिक्त बनाना चाहिये तथा कथा की समाप्ति तक नायक को चतुर्वर्ग की प्राप्ति करवाना चाहिये।

महाकाव्य का सबसे अधिक विवेचनात्मक तथा साङ्गोपाङ्ग वर्णन विश्वनाथ ने साहित्य-दर्पण में किया है। उनके अनुसार महाकाव्य को सर्गों में विभाजित होना चाहिये तथा उसका प्रमुख पात्र नायक होना चाहिए। महाकाव्य का नायक कोई देवता हो सकता है अथवा अच्छे वंश का क्षत्रिय, जो धीरोदात्त हो तथा अन्य गुणों से समन्वित हो। किसी-किसी महाकाव्य में एक राजवंश में

---

१. विप्रलम्भैर्विवाहैश्च, कुमारोदयवर्णनैः।
मन्त्रदूतप्रयाणाजिनायकाभ्युदयैरपि ॥
सर्वत्र भिन्नवृत्तान्तैरूपेतं लोकरञ्जकम्।
काव्यं कल्पान्तरस्थायि जायते सदलङ्कृति ॥

काव्यादर्श—१।१७ एवं १९

२. न्यूनमप्यत्र यैः कैश्चदङ्गैः काव्यं न दुष्यति।
यद्युपात्तेषु सम्पत्तिराराधयति तद्विदः ॥

काव्यादर्श—१।२०

उत्पन्न अनेक कुलीन राजाओं की चरित्र-चर्चा दिखलाई पड़ती है। रसाभिव्यंजन की दृष्टि से श्रृंगार, वीर और शान्त रसों में से कोई एक रस महाकाव्य का अंगी रस होता है अन्य सब रस उसके सहायक बनकर वर्णित किये जाते हैं। महाकाव्य में नाटक की समस्त सन्धियों का वर्णन होना चाहिये। महाकाव्य का इतिवृत्त या तो इतिहास से गृहीत होना चाहिए अथवा किसी महापुरुष के जीवन से सम्बद्ध कोई लोकविश्रुत कथा से लिया जा सकता है। महाकाव्य में धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष का भी काव्यात्मक निरूपण किया जाना चाहिये।[1]

महाकाव्य के प्रारम्भ में मंगलमय श्लोक या नमस्कारात्मक वाक्य होने चाहिये। यदि आशीर्वादात्मक वाक्य से वस्तु का निर्देश होता हो तो बहुत अच्छा रहता है। महाकाव्य में दुष्टों की निन्दा और सज्जनों की प्रशंसा होनी चाहिये। महाकाव्य में कम से कम आठ सर्ग अवश्य होने चाहिये, जो न तो बहुत विस्तृत हों और न अतिसंक्षिप्त। प्रत्येक सर्ग में किसी एक वृत्त में सब पद्य निबद्ध किये जाने चाहिये और सर्ग के अन्त में वृत्त को परिवर्तित कर देना चाहिये। सर्ग के अन्त में अगले आने वाले सर्ग की कथा की सूचना होना चाहिये।[2]

---

१. सर्गबन्धो महाकाव्यं तत्रैको नायकः सुरः।
सद्वंशः क्षत्रियो वापि धीरोदात्तगुणान्वितः॥
एकवंशभवाभूपाः कुलजा बहवोऽपि वा।
श्रृंगारवीरशान्तानामेकोऽङ्गी रस इष्यते॥
अङ्गानि सर्वेपि रसाः सर्वे नाटकसन्धयः।
इतिहासोद्भवं वृत्तमन्यद्धा सज्जनाश्रयन्।
चत्वारस्तस्य वर्गाः स्युस्तेष्वेकं च फलं भवेत्॥
साहित्यदर्पण—६।३१५ से ३१८ तक

२. आदो नमस्क्रियाशीर्वा; वस्तुनिर्देश एव वा
क्वचिन्निन्दा खलादोनां, सतां च गुणकीर्त्तनम्॥
एकवृत्तमयैः पद्यैरवसानेऽन्यवृत्तकैः।
नातिस्वल्पा नातिदीर्घा सर्गा अष्टाधिक इस॥
नानावृत्तमयः क्वापि सर्गः कश्चन दृश्यते।
सर्गान्ते भाविसर्गस्य कथायाः सूचनं भवेत्॥
साहित्यदर्पण—६।३१९ से ३२१ तक

महाकाव्य में प्राकृतिक दृश्यों का विशेष वर्णन होना चाहिये, जैसे सन्ध्या, चन्द्र, रात, प्रदोष, सघन अन्धकार, दिन, प्रातःकाल, मध्याह्न, मृगया, पर्वत, ऋतु, वनराजि तथा समुद्र इत्यादि। शृंगार के संयोग और वियोग दोनों पक्षों का साङ्गोपाङ्ग वर्णन होना चाहिये। महाकाव्य में मुनि, स्वर्ग, नरक, यज्ञ इत्यादि धार्मिक बातों का वर्णन हो, किन्तु साथ ही साथ युद्ध, सेना का प्रमाण, यात्रा, साम, दाम, दण्ड भेद, आदि उपाय चतुष्टय का वर्णन, मन्त्रो तथा पुत्र-जन्म इत्यादि इन सबका साङ्गोपाङ्ग वर्णन होना चाहिए। महाकाव्य का नामकरण या तो कवि के नाम पर हो अथवा नायक के नाम पर हो। इसमें वर्ण्यवस्तु के आधार पर सर्गों के नामकरण भी होते हैं।[1]

साहित्य-दर्पण की महाकाव्य की परिभाषा सामान्यतः मान्य है क्योंकि यह जितनी विशद और पूर्ण है, उतनी अन्य आलंकारिकों की नहीं। इसमें इतिवृत्त; चरित्र चित्रण और रसाभिव्यंजन तीनों की दृष्टि से महाकाव्य के स्वरूप का निरूपण किया गया है। सभी लक्षणशास्त्रियों के मत का अवलोकन करने पर ज्ञात होता है कि कुछ बातें सभी आचार्यो ने स्वीकार की हैं। जैसे महाकाव्य सर्गबन्ध होना चाहिए तथा प्रधान नायक के चरित्र का उत्कर्ष दिखलाते हुए उसे बहुमुखी प्रतिभा से सम्पन्न बताना चाहिये।

रुद्रट ने काव्यालंकार में लिखा है कि निरन्तर बढ़ती हुई विस्तीर्ण महिमा को फैलाता हुआ महाकवि युग के अन्त तक स्थिर रहने वाले हिम के समान शुभ्र रमणीय यश काव्य से प्राप्त करता है।[2]

---

१. सन्ध्यासूर्येन्दुरजनी-प्रदोषध्वान्तवासराः।
प्रातर्मध्याह्नमृगयाशैलर्तुवनसागराः॥
सम्भोगविप्रलम्भौ च मुनिस्वर्गपुराध्वराः।
रणप्रयाणोपयममन्त्रपुत्रोदयादयः॥

वर्णनीया यथा योगं साङ्गोपाङ्गा अमी इह।
कवेर्वृत्तस्य वा नाम्ना नायकस्येतरस्य वा॥
नामास्य सर्गोपादेयकथया सर्गनाम तु।

साहित्यदर्पण—६।३२२ से ३२५ के पूर्वार्द्ध तक

२. स्फारस्फुरदुरुहमहिमा हिमधवलं सकललोककमनीयम्।
कल्पान्तस्थायियशः प्राप्नोति महाकविः काव्यात्॥

काव्यालंकार—१।२१

अग्निपुराण में पद्य का कलाप नाम से एक अन्य भेद किया गया है। जिस पद्य में केवल एक छन्द का प्रयोग किया गया हो तथा जिसमें अतिशय कोमलता लाने के लिये कैशिकी वृत्ति का प्रयोग किया गया हो, उसे कलाप या कलापक कहते हैं। इसकी विषय-वस्तु में प्रवास और पूर्वराग का समावेश होना चाहिए।[1]

अग्निपुराण में काव्य के भेद में पर्यायबन्ध नामक भेद की गणना की गयी है। उसके विस्तार के विषय में कुछ नहीं लिखा गया है। इसका कारण सुशील कुमार डे के "संस्कृतकाव्यशास्त्र का इतिहास" के अनुसार है कि[2] इसका अलंकार-सम्बन्धी खण्ड मुख्यतया संग्रहमात्रा है। इसका लेखक स्वयं कोई बड़ा सैद्धान्तिक नहीं था। उसका उद्‌देश्य एक कामचलाऊ संग्रहमात्र प्रस्तुत करना था। उसने किसी विशेष मत अथवा सिद्धांत का अनुसरण न करके सभी सूत्रों में प्राप्त सामग्री को साररूप में प्रस्तुत किया है।[2]

सविशेषक नामक काव्य में संस्कृत के अतिरिक्त अन्य प्राकृत इत्यादि में भी रचना की जा सकती है। विशिष्ट रूप से काव्य-सामग्री प्रस्तुत करने के कारण इसे सविशेषक कहते हैं। जिस काव्य में विभिन्न प्रकार के छः छन्दों का प्रयोग हो, उसे कुलक नामक काव्य कहते हैं। इसे सान्दानितक भी कहते हैं। विभिन्नप्रकार के छन्दों के प्रयोग के कारण इसमें उक्तिवैचित्र्य बना रहता है।[3]

साहित्यदर्पणकार कुलक और सान्दानितक को अलग-अलग मानते हैं। उनके अनुसार जिनकी रचना तीन पद्यों में पूर्ण हो जाती है, उसे सान्दानितक और जिसकी रचना में पाँच पद्यों का कुल दिखलाई देता है, उसे कुलक कहते हैं।[4]

---

१. समानवृत्तनिर्व्यूढः कैशिकीवृत्तिकोमलः ॥
कलापोऽत्र प्रवासः प्रागनुरागादयो रसः। अग्निपुराण—३३७।३५

२. काव्यशास्त्र का इतिहास—पृष्ठ ९१

३. सविशेषकप्राप्तादि संस्कृतेनेतरेण च।
श्लोकैरनेकैः कुलकं स्यात्सन्दानितकं च तत् ॥
अग्निपुराण—३३७।३५

४. द्वाभ्यां तु युग्मकं सान्दानितकं त्रिभिरिष्यते।
कलापकं चतुर्भिश्च पंचभिः कुलकं मतम् ॥
साहित्यदर्पण—६।३१५

दण्डी ने इन सबको अलग न मानकर महाकाव्य में समाहित किया है। मुक्तक, कुलक, कोष, संघात आदि सर्गबन्धात्मक महाकाव्य के अंगभूत हैं। अतएव उनके अलग स्वरूप निर्धारण की आवश्यकता नहीं है।[1]

मुक्तक

काव्य की स्फुट रचना मुक्तक कहलाती है। इसमें कथाप्रवाह का कोई बन्धन नहीं होता है। इसका प्रत्येक श्लोक चमत्कारक्षम होता है और सहृदयों को आनन्दित करने में समर्थ होता है। अग्निपुराण में मुक्तत श्लोक की चमत्कारक्षमता पर अधिक बल दिया गया है।[2] दण्डी के काव्यादर्श में भी इसी परिभाषा को उद्धृत किया गया है। मुक्तक का अपना स्वतन्त्र महत्व होता है। यदि प्रबन्ध काव्य एक पुरा उद्यान है तो मुक्तक एक चुना हुआ पुष्पगुच्छक।

मुक्तक का अर्थ ही है मुक्त होना। जो पद्य अन्य पदों की आकांक्षा से मुक्त होता है, उसे मुक्तक कहते हैं।[3] संस्कृत साहित्य के अधिकांश मुक्तक खो गए हैं, किन्तु जो उपलब्ध हैं, वे अत्यन्त सरस हैं। मुक्तक काव्य के प्रसंग में आचार्य आनन्दवर्धन ने लिखा है कि इस में भी प्रबन्ध काव्य की भाँति कवियों का रसाभिनिवेश दिखलाई पड़ता है।[4]

कोष

जैसा इसके नाम से स्पस्ट है, यह एक काव्य कोष है। इसमें अग्निपुराण के अनुसार काव्यों के उद्भट विद्वान् और कविशिरोमणि आचार्यों की

---

१. मुक्तकं कुलकं कोषः संघात इति तादृशः।
सर्गबन्धांशरूपत्वादनुक्तः पद्यविस्तरः॥

काव्यदर्श—१।१३

२. मुक्तकं श्लोक एकैकश्चमत्कारक्षमः सताम्।

अग्निपुराण—३३७।३६

३. छन्दोबद्धपदं पद्यं तेन मुक्तेन मुक्तकम्॥

साहित्यदर्पण—६/३१४

४. मुक्तकेषु प्रबन्धेष्विव रसबन्धाभिनिवेशिनः कवयो दृश्यन्ते यथा अमरुकस्य कवेर्मुक्तकाः शृंगाररसस्यन्दिनः प्रबन्धायमानाः प्रसिद्धा एव।

ध्वन्यालोक उद्योत ३।पृ० १८२

हृदयस्पर्शी सूक्तियों का संग्रह होता है। इसमें अत्यधिक रससिक्तता होती है और प्रवाहमान रस के कारण यह विद्वान् और चतुर रसिकों का अत्यन्त प्रिय होता है।[१] साहित्यदर्पणकार के अनुसार कोष एक दूसरे से निरपेक्ष स्वतन्त्र श्लोकों का संग्रह होता है।[२] कोष में रसाभास और उपक्रम की शक्ति होती है तथा कुलक की तरह इसमें एक ही सर्ग में भिन्न-भिन्न छन्दों का प्रयोग होता है। कोष को दो भागों में विभक्त किया जाता है। मिश्रित और प्रकीर्णक।

मिश्रित

इसमें काव्य श्रव्य भी हो सकता है एवं दृश्य भी। इन दोनों के मिश्रण के कारण इसे मिश्रित कहते हैं।

प्रकीर्णक

इसमें भिन्न-भिन्न प्रकीर्ण सूक्तियों का संग्रह होता है। अतएव इसे प्रकीर्णक कहते हैं।

चम्पू काव्य

जिसमें गद्य और पद्य का मिश्रण होता है, उसे चम्पू काव्य कहते हैं।[3] चम्पू का एक प्रकार बिरुद है। इसमें गद्य-पद्य मिश्रित करते हुए राजाओं की स्तुति गाई जाती है। दण्डी के अनुसार नाटक भी चम्पू काव्य की श्रेणी में आते हैं। उनका विचार है कि गद्य-पद्य मिश्रित शैली को चम्पू कहते हैं।[४] अन्यान्य आचार्यों ने काव्य के दो भेद किए हैं। तब चम्पू काव्य, काव्य और आख्यायिका के साथ श्रव्य काव्य में समाहित हो जाता है।

---

१. सूक्तिभिः कविसिंहानां सुन्दरीभिः समन्वितः।
कोषो ब्रह्मापरिच्छिन्नः स विदग्धाय रोचते॥

अग्निपुराण—३३७।३६

२. कोषः श्लोकसमूहस्तु स्यादन्योन्यानपेक्षकः।

साहित्यदर्पण—६।३२९

३. गद्यपद्यमयं काव्यं चम्पूरित्यभिधीयते।

साहित्यदर्पण—६।३३६

४. मिश्राणि नाटकादीनि तेषामन्यत्र विस्तरः।
गद्यपद्यमयी काचिच्चम्पूरित्यभिधीयते॥

काव्यादर्श—१।३१

रीति और वृत्ति

शब्दों को वाक्य में गूंथकर सुन्दर काव्य का सर्जन किया जाता है। यही काव्यगुम्फ यदि उच्च श्रेणी का होता है तो सहृदयों के मन में आनन्दोल्लास की उत्पत्ति करता है। उसमें यदि कहीं से न्यूनता रहती है तो वह विज्ञ पाठकों को खटकता सा रहता है। अतएव काव्य में पूर्णता प्राप्त कराने के लिए रीति का ज्ञान नितान्त आवश्यक है। अग्निपुराण में इसका महत्त्व बतलाते हुए इसके पांचाली, गौडी, वैदर्भी और लाटी चार भेद बतलाएँ हैं।[1] रीति का महत्व प्रतिपादित करते हुए आचार्य विश्वनाथ गुण, अलंकार और रीति को एक साथ संगठित कर उसे 'रसात्मकं वाक्यम्' रूप काव्य की उत्कृष्टता का कारण बतलाते हैं।[2] अग्निपुराण की भाँति इन्होंने भी रीति के चार प्रकार स्वीकार किये हैं।[3]

पांचाली

पांचाल-देश में लोकप्रिय होने के कारण पांचाली रीतिनाम पड़ा। पांचाली रीति में छोटे-छोटे समास होते हैं। अत्यधिक समासों का प्रयोग इसमें वर्जित है। इसकी भाषा कोमल तथा अलंकारों से युक्त होती है और कोमलकान्त पदावली से युक्त होने के कारण सहृदय पाठकों के मन में सीधे उतर जाती है। थोड़े अलंकारों से युक्त होने के कारण इसका काव्य-सौन्दर्य और भी बढ़ जाता है। अग्निपुराण में पांचाली को मृदु और अल्प विग्रह वाला बतलाया गया है।[4] अग्निपुराण के मत से विश्वनाथ कविराज सहमत हैं। उनके मत में भी पांचाली में ओज और माधुर्य-व्यंजक वर्णों को छोड़ दिया जाता है।

---

१. वाग्विद्यासम्प्रतिज्ञाने रीति सापि चतुर्विधा।
पांचालीगौडदेशीया वैदर्भी लाटजा तथा॥

२, उत्कर्षहेतवः प्रोक्ता गुणालङ्काररीतयः।
साहित्यदर्पण—१।३

३. उपकर्त्री रसादीनां सा पुनः स्याच्चतुर्विधा।
वैदर्भी चाथ गौडी च पांचाली लाटिका तथा॥ साहित्यदर्पण—६।१

४, उपचारयुतामृद्वी पाञ्चाली ह्रस्वविग्रहा। अ०-पु०३४०।२ का पूर्वार्द्ध

प्रसाद की अभिव्यक्ति करने वाले पदों से उसकी रचना की जाती है, जिनमें पांच या छः बड़े समासों से अधिक समासों का प्रयोग नहीं होता है।[1]

भोजराज के मत में भी पांचाली रीति में पांच या छः बड़े समासों से अधिक पदों का प्रयोग नहीं होना चाहिए तथा इसमें ओज और कान्ति गुणों को वर्तमान रहना चाहिए। पांचाली रीति को मिश्रबन्ध समझना चाहिए। काव्यालंकार के अनुसार पांचाली में दो या तीन समस्त पद होते हैं। लाटीया में पांच या सात तथा गौडीया में कवि अपनी शक्ति भर पदों को समस्त करता है।[2]

राजशेखर ने कल्पना की है कि उमापुत्री औमेयी जब पांचाल गई तब वहाँ जिस प्रकार के वाक्यों का प्रयोग किया, वही पांचाली है।[3]

गौडी

यह रीति गौड देश में प्रचलित थी। अतएव इसका नाम गौडी हुआ। इसमें पांचाली रीति के विपरीत लम्बे-लम्बे समासों के प्रयोग के कारण अर्थ के स्पष्टीकरण में बाधा आती है। ओज इत्यादि के लिए यह रीति बहुत उपयुक्त है। अतः रौद्र और वीर में इसका उपयोग किया जाता है। लम्बे-लम्बे समासों के कारण इसमें कथा-प्रवाह अनवस्थित रहती है और वर्णन के कारण काव्य सौन्दर्य भी भंग हो जाता है। अग्निपुराण में इसे दीर्घविग्रहा कह कर समास बहुल होना बतलाया गया है।[4]

विश्वनाथ के अनुसार गौडी रीति में ओजगुण के अभिव्यंजक वर्गों से युक्त समास-प्रचुर मात्रा में होने चाहिए। इस रीति में प्रचण्ड तथा उद्भट वाक्या-

---

१. समस्तपंचषपदबन्धः पंचालिका मता।

साहित्यदर्पण—९।४

२. द्वित्रिपादा पांचाली, लाटीया पंच सप्त वा यावत्।
शब्दाः समासवन्तो भवति, यथाशक्ति गौडीयाः॥

काव्यालंकार—२।५

३. ततश्च स पांचालः प्रत्युच्चवाल—सा पांचाल मध्यमा प्रवृत्तिः।

काव्यमीमांसा—पृष्ठ २२

४. अनवस्थितसन्दर्भा गौडीया दीर्घविग्रहा।

अग्निपुराण—३५०।२ का उत्तरार्द्ध

चली भी होनी चाहिये ।[1] अलंकारशास्त्री पुरुषोत्तम का कहना है कि गौडी रीति समास-बहुल होती है । इसमें ओज और कान्ति गुणों का समन्वय होता है तथा अधिकांश महाप्राण वर्णों का बाहुल्य रहता है । इसमें अनुप्रास वैशिष्ट्य आवश्यक है । गौडी रीति को उद्धतबन्ध समझना चाहिए । राजशेखरने इस विषय में लिखा है कि जिस वेश को सारस्वतेय काव्यपुरुष ने धारण किया, उसी वेश को अन्य पुरुषों ने भी धारण किया । उमापुत्री औमेयी ने जब जिस प्रकार के वाक्यों को प्रसंगानुसार कहे, उन्ही के आधार पर उस वृत्ति का नाम पड़ा । जब औमेयी ने समासबहुल सानुप्रासिक योगवृत्ति तथा परम्परा गर्भ वाक्य कहे, वही गौडी रीति हुई ।[2]

वैदर्भी

यह रीति विदर्भ प्रान्त में प्रवर्तित होने के कारण वैदर्भी कहलाई । जिस प्रकार पांचाल और विदर्भ पास ही पास हैं, उसी प्रकार पांचाली और वैदर्भी अपने गुणों से एक दूसरे के बहुत पास हैं । अग्निपुराण में लिखा है कि इस रीति में अत्यल्प समास होते हैं अथवा नहीं भी होते हैं । इसमें अत्यधिक कोमलकान्त पदावली का प्रयोग नहीं होता है ।[3] इस दृष्टि से यह पांचाली से भिन्न है । इसमें न तो अधिक अलंकारों का प्रयोग होता है और न ही काव्य सर्वथा अलंकार-हीन होता है । इसमें अलंकारों को बलात् काव्य के ऊपर आरोपित नहीं किया जाता, अपितु काव्य-प्रवाह में जो भी अलंकार स्वतः आ जाते हैं, उन्हीं का निबन्धन होता है । इस प्रकार अभिव्यक्ति में सरलता रहती है और भाषा भी स्पष्ट एवं प्राञ्जल रहती है । काव्यालंकार में

---

१. ओजःप्रकाशकैर्वर्णै बन्धैराडम्बरः पुनः ।
समासबहुला गौडी वर्णै शेषैः पुनर्द्वयोः ॥

साहित्यदर्पण—९।३

२. समासवदनुप्रासवदनुप्रासवद्योगप्रवृत्तिपरम्परा तद् गर्भे जगाद सा गौडीया रीतिः ।

काव्यमीमांसा—३।पृ० २२

३. उपाचारैर्न बहुभिरुपचारी विवर्जिता ।
नातिकोमलसन्दर्भा, वैदर्भी मुक्तविग्रहा ॥

अग्निपुराण—३४०।२ का उत्तरार्द्ध एवं ३ का पूर्वार्द्ध

भी इसके समासरहित होने पर बल दिया गया है।[१] वैदर्भी रीति के प्रसंग में विश्वनाथ की परिभाषा अत्यधिक लोकप्रिय हुई है। उनके अनुसार वैदर्भी रीति में माधुर्यव्यंजक वर्ण होते हैं, और ललित रचना होती है। समास सर्वथा नहीं होते हैं अथवा अत्यल्प होते हैं।[२]

राजशेखर ने लिखा है कि जिस रीति में उमापुत्री औमेयी ने वृत्तवाद्य आदि का प्रयोग किया, वही वैदर्भी रीति है। इसमें युक्तानुप्रासिक समासरहित, भावव्यंजक शब्दों का प्रयोग होता है।[3] यह वास्तव में मधुरबन्ध है। यह सबसे लोकप्रिय है। कवियों ने मुक्तकंण्ठ से इसकी प्रशंसा की है। महाकवि बिल्हण ने इसकी प्रशंसा करते हुए लिखा है कि बिना बादलों की वृष्टि के समान कानों में अमृत घोलती हुई सरस्वती के विलास की जन्मभूमि वैदर्भी रीति में उत्कृष्ट कवि ही अपनी पदरचना कर सकते हैं।[४] महाकवि हर्ष ने दमयन्ती को सम्बोधित करके जिस वैदर्भी को उदार गुणों के कारण धन्य कहा, वह वैदर्भी रीति की ही प्रशंसा है।[५]

लाटी

लाट प्रदेश अर्थात् काश्मीर में लोकप्रिय होने के कारण इसका नाम लाटी है। इस रीति में वाक्यों का गठन अत्यन्त सीधा और स्पष्ट होता है।

---

१. आख्यातान्युपसर्गें, संसृज्यते कथंचिदर्थाय।
वृत्तेरसमासाया, वैदर्भीरीतिरेकैव ॥

काव्यालंकार—२ पृष्ठ ६

२. माधुर्यव्यंजकै र्वर्णैः रचना ललितात्मका।
आवृत्तिरल्पवृत्तिर्वा वैदर्भीरीतिरिष्यते ॥

साहित्यदर्पण—९।२

३. स्थानानुप्रासवदसमासं योगवृत्तिगर्भं च जगाद सा वैदर्भी।

काव्यालंकार पृष्ठ २५

४. अनभ्रवृष्टिश्रवणामृतस्य, सरस्वतीविभ्रमजन्मभूमिः।
वैदर्भीरीति कृतिनामुदेति सौभाग्यलाभप्रतिभूपदानम् ॥

विक्रमाङ्कदेवचरित सर्ग १।९ श्लोक

५. धन्यासि वैदर्भि गुणैरुदारैर्यया समाकृष्यत नैषधोऽपि।
इतः स्तुतिः का खलु चन्द्रिकाया यदब्धिमप्युत्तरली करोति ॥

नैषधीयचरित सर्ग ३।११६ श्लोक

व्यर्थ की वक्रता इस रीति में नहीं पाई जाती है। अग्निपुराण में लिखा है कि लाटी रीति में समास भी अधिक स्फुट नहीं होने चाहिए। इसमें छोटे-छोटे समासों का प्रयोग हो तथा भाषा का आवश्यक अलंकरण इसमें न हो। अलंकारों से रहित होने से इसका सीधा हृदय पर प्रभाव पड़ता है।[1]

लाटी रीति का अभिप्राय मृदुबन्ध से है। इसमें कोमल पदों के समास का सौन्दर्य देखने योग्य हुआ करता है। इसमें संयुक्त वर्णों का प्रयोग अत्यल्प मात्रा में होता है। प्रकृतोपयुक्त विशेषणों से रमणीय कथावस्तु की एक अपनी ही अनोखी छटा छिटकी रहती है। विश्वनाथ के अनुसार लाटी रीति में वैदर्भी और पांचाली का मिला-जुला रूप होता है।[2] अतएव इसमें दोनों की विशेषताएँ विद्यमान रहती हैं।

वृत्ति-निरूपणः

रीति निरूपण के बाद वृत्तियों का स्थान आता है। नायक के कार्यों के अनुकूल स्वभाव को वृत्ति कहते हैं। अग्निपुराण में भारती, आरभटी, कौशिकी तथा सात्वती नाम से चार भेद किए गये हैं।[3] सीताराम चतुर्वेदी ने इसे नाटक की रचना-प्रकृति बतलाया है।[4]

भारती

भारती वृत्ति सर्वश्रेष्ठ स्वीकार की गई है।[5] विश्वनाथ ने इसे सर्वश्रेष्ठ

---

१. लाटीया स्फुटसन्दर्भा नातिविस्फुटविग्रहा।
परित्यक्ताऽभिभूयोऽपि उपचारैरुदाहृता॥

अग्निपुराण—३४०।४

२. लाटी तु रीति वैदर्भीपांचाल्योरन्तरे स्थिता।

(साहित्यदर्पण– ९/५२ का पूर्वार्द्ध)

३. क्रियास्वविषमावृत्ति भारत्यारभटी तथा।
कैशिकीं सारवती चेति सा चतुर्धा प्रतिष्ठिता॥

(अग्निपुराण–३४०/५)

४. नाटक की रचना-प्रकृति को वृत्ति कहते हैं।

(साहित्यानुशासन, पृष्ठ ६४८)

५. ऋग्वेदाद् भारतीवृत्तिः यजुर्वेदाद् सात्वती।
कैशिकी सामवेदाच्च शेषा चाथर्वणात्तथा॥

(नाट्यशास्त्र–२२/२४)

स्वीकार करते हुए सब वर्णनों में इसके प्रयोग का विधान किया है।[१] साहित्य-दर्पण और दशरूपक की परिभाषा एक ही हैं।

अग्निपुराण के अनुसार भारतीवृत्ति में शब्दों के प्रयोग पर अधिक ध्यान दिया गया है। इसमें स्त्रीपात्रों के द्वारा प्राकृत भाषा का प्रयोग कराया जाता जाता है। भरतमुनि का प्रिय होने के कारण इसका नाम भारती है। यह नाटक के अधिक उपयुक्त है।[२]

धनंजय ने भारती वृत्ति को नाटक के अधिक उपयुक्त बतलाते हुए लिखा है कि किसी ऋतु का आश्रय लेकर काव्यार्थ सूचक श्लोकों से रंग को प्रसन्न करके भारती वृत्ति का आश्रय लेना चाहिए।[३] भरतमुनि ने नाट्यशास्त्र में इसकी प्रशंसा करते हुए लिखा है कि यह वाक्प्रधान होती है इसमें पुरुष पात्र की अधिकता होती है। स्त्रीपात्र संस्कृत का प्रयोग नहीं करके हैं। भरत के द्वारा प्रयुक्त होने के कारण उनके नाम से यह भारती वृत्ति कहलाती है।[४]

अग्निपुराण में भारती वृत्ति के चार अंग किए गए हैं। वीथी, प्रहसन, नाटक, और प्रस्तावना; इसमें वीथी, प्रहसन इत्यादि नाटक के भेद प्रस्तुत किए गए हैं। धनंजय ने भारती वृत्ति की परिभाषा देते हुए उसे संस्कृत प्रायः

---

१. रसे रौद्रे च बीभत्से वृत्तिः सर्वत्र भारती।

(साहित्यदर्पण--६/१२२)

(दशरूपक--२/६२)

२. वाक्प्रधाना नरप्राया स्त्रीयुक्ता प्राकृतोक्तिता।
भरतेन प्रणीतवाद् भारतीरीतिरुच्यते॥

(अग्निपुराण--३४०/६)

३. रंगप्रसाद्य मधुरैः श्लोकैः काव्यार्थसूचकैः।
ऋतुं कंचिदुपादाय, भारतीवृत्तिमाश्रयेत्॥

(दशरूपक-- ३/४)

४. या वाक्प्रधाना पुरुषा प्रयोज्या,
स्त्रीवर्जिता संस्कृतवाक्ययुक्ता।
स्वनामधेयैर्भरतैः प्रयुक्ता,
सा भारती नाम भवेत्तु वृत्तिः॥

(नाट्यशास्त्र--२२/२५)

बतलाया है तथा प्ररोचना, वीथी, प्रहसन और आमुख उसके भेद वर्णित किए हैं।[1] यही परिभाषा विश्वनाथ ने भी दी है।

प्ररोचना

धनंजय ने लिखा है कि जहाँ प्रस्तुत अर्थ को प्रशंसा करते हुए श्रोताओं को उन्मुख किया जाता है उसे प्ररोचना कहते हैं।[2] लगभग यही परिभाषा विश्वनाथ ने भी दी है। उनके अनुसार रूपक या रूपककार की महिमा के वर्णन से दर्शकों को उन्मुख किया जाता है।[3] वीथी और प्रहसन रूपक के दो भेद हैं।

आमुख

धनंजय ने जिसे आमुख कहा है, उसे अग्निपुराण में प्रस्तावना कहा गया है। नाटक-निरूपण के प्रसंग में इसे आमुख भी कहा गया है।[4]

साहित्यदर्पण में भी यह श्लोक उसी प्रकार है।[5] धनंजय के अनुसार आमुख की परिभाषा है कि इसमें सूत्रधार नटी से कार्य प्रारम्भ करने के निमित्त चित्रोक्ति द्वारा कहता है।[6] अग्निपुराण में प्रस्तावना के तीन भेद हैं—प्रवृत्तक,

---

१. भारती संस्कृतप्रायो, वाग्व्यापारो नराश्रयः।
भेदैः प्ररोचनायुक्तै, वीथीप्रहसनामुखैः॥
(दशरूपक--३/५)

२. उन्मुखीकरणं तत्र प्रशंसातः प्ररोचना।
(दशरूपक--३/६)

३. अङ्गान्यत्रोन्मुखोकारः प्रशंसातः प्ररोचना।
(साहित्यदर्पण--६३०)

४. नटी विदूषकोवाऽपि परिपार्श्विक एव च
सहितासूत्रधारेण संलापं यत्र कुर्वते।
चित्रवाक्यैः स्वकायार्थैप्रस्तुताक्षेपिभिर्मिथः
आमुखं तत्तु विज्ञेयं बुधैः प्रस्तावनापि सा॥
(अग्निपुराण- ३३८/११, १२, १३ का पूर्वार्द्ध)

५. साहित्यदर्पण–६/३१–३२

६. सूत्रधारो नटीं ब्रूते, मार्षं वाऽथ विदूषकम्।
स्वकार्यप्रस्तुताक्षेपि, चित्रोक्त्या यत्तदामुखम्॥
(दशरूपक– ३/७)

कथोद्घात एवं प्रयोगातिशय। धनंजय ने तीन ही भेद माने हैं परन्तु विश्वनाथ ने इसके पांच भेद किए हैं। इसमें उद्घात्यक और अवलगित दो अतिरिक्त नाम हैं।

प्रवृत्तक

अग्निपुराण के अनुसार जहाँ पर सूत्रधार किसी नाटकीय पात्र के चरित्र का आश्रम लेकर वर्णन करे तथा सूत्रधार के साथ ही वह चरित्र रंगमंच पर प्रवेश करे तब वह प्रवृत्तक प्रस्तावना कहलाती है।[१] कविराज विश्वनाथ एवं धनंजय इस विषय में एक मत हैं। उनके अनुसार जहाँ पर काल की समानता लेकर पात्र का प्रवेश आक्षेप किया जाता है उसे प्रवृत्तक प्रस्तावना कहते हैं।[२]

स्पष्ट रूप में वर्तमान काल के गुणों का आधार लेते हुए ही किसी पात्र का प्रवेश करा दिया जाता है, उसे प्रवृत्तक कहते हैं।

कथोद्घात

अग्निपुराण के अनुसार सूत्रधार के द्वारा कहे हुए वाक्य या इसके किसी अंश को दोहराता हुआ कोई पात्र रंगमंच पर आता है और नाटक का आरम्भ उससे होता है, तब इस प्रकार की प्रस्तावना को कथोद्घात कहते हैं।[३] विश्वनाथ भी इससे सहमत हैं और यही परिभाषा अक्षरशः साहित्य दर्पण भी भी है।[४] धनंजय की परिभाषा भी अग्निपुराण की परिभाषा

---

१. कालं प्रवृत्तमाश्रित्य सूत्रधृग्यत्र वर्णयेत्।
तदाश्रयस्य पात्रस्य प्रवेशस्तत्प्रवृत्तकम्॥
(अग्निपुराण- ३३८/१४)

२. कालसाम्यं समाश्रित्य पात्रस्य प्रवेशस्तत्प्रवृत्तकम्।
साहित्यदर्पण ६।२७। दशरूपक ३।१०

३. सूत्रधारस्य वाक्यं वा यत्र वाक्यर्थ मेव वा।
गृहीत्वा प्रविशेत्पात्रं कथोद्घात। स उच्यते॥
अग्निपुराण ३३८।१५

४. सूत्रधारस्य वाक्यं वा यत्र वाक्यार्थमेव वा।
गृहीत्वा प्रविशेत्पात्रं कथोद्घातः स उच्यते॥
(साहित्यदर्पण- ८३५)

जैसी ही है। उनके अनुसार जहाँ पर इतिवृत्त के सूचक सूत्रधार के वाक्य या वाक्यांश को लेकर पात्र प्रवेश करता है तो उसे कथोद्घात कहते हैं।[१] इस प्रकार की प्रस्तावना बहुप्रचलित है।

प्रयोगातिशय

जहाँ पर सूत्रधार किसी पात्र का परिचय कराये और उसी समय पात्र का प्रवेश हो तो अग्निपुराण के अनुसार उसे प्रयोगातिशय प्रस्तावना कहते हैं। इसमें सूत्रधार अपने अभीष्ट कर्तव्य का सम्पादन कर लेता है।[२]

इससे भिन्न दशरूपक के अनुसार जहाँ सूत्रधार "यह वही है" इस प्रकार कहता हुआ पात्र परिचय कराये और उसी समय वह पात्र रंगमंच पर प्रवेश करे तो वह प्रयोगातिशय नामक प्रस्तावना होती है।[3]

विश्वनाथ के अनुसार जहाँ सूत्रधार स्वयं अपने पूर्व प्रयोग का अतिक्रमण करके नाट्यवस्तु की सूचना दिया करता है, उसे प्रयोगातिशय नामक प्रस्तावना कहते हैं।[४]

आरभटी वृत्ति

आरभटी वृत्ति में मायावी और अद्भुत दृश्यों की प्रधानता रहती है। यह वृत्ति अद्भुत और भयानक रसों के अनुकूल होती है। अग्निपुराण के अनुसार इसमें मायाचार, इन्द्रजाल और सम्मोहन इत्यादि अद्भुत दृश्यों का वर्णन

---

१. स्वेतिवृत्तसमं वाक्यमर्थं वा यत्र सूत्रिणः।
गृहीत्वा प्रविशेत्पात्रं कथोद्घातो द्विधैव सा॥
(दशरूपक- ३/९)

२. प्रयोगेषु प्रयोगे तु सूत्रधृग्यत्र वर्णयेत्।
ततश्च प्रविशेत्पात्रं, प्रयोगातिशयो हि सः॥
(अग्निपुराण- ३३८/१६)

३. एषोऽयमुपक्षेपात् सूत्रधारप्रयोगतः।
पात्रप्रवेशो यत्रैष प्रयोगातिशयो मतः॥
(दशरूपक- ३/११)

४. यदि प्रयोगे एकस्मिन् प्रयोगोऽन्यः प्रयुज्यते।
तेनपात्रप्रवेश चेत्प्रयोगातिशयस्तदा॥
(साहित्यदर्पण-६/३६)

रहता है। इसके संक्षिप्तका, अवपात और वस्तूत्थापन नामक तीन भेद हैं।[१] विश्वनाथ ने आरभटी वृत्ति में मायेन्द्रजाल संग्राम इत्यादि की प्रधानता देकर अग्निपुराण की परिभाषा की पुष्टि की है। इसमें क्रोध और उद्भ्रान्त होने की स्थितियों का भी वर्णन रहता है।[२] धनंजय की आरभटी। की परिभाषा अग्निपुराण के समान है किन्तु उन्होंने उसके संक्षिप्तका, सम्फेट, वस्तूत्थापन और अवपात नामक चार भेद किए हैं।[३] भरतमुनि ने आरभटी वृत्ति के बारे में लिखा है कि इसमें कपटपूर्ण तथा दम्भपूर्ण झूठे वचनों का कथन होता है।[४] मुख्य रूप से सभी लक्षणशास्त्री इस बात से सहमत हैं कि इसमें माया, इन्द्रजाल, संग्राम, क्रोध और उद्भ्रान्त चेष्टाओं का प्रदर्शन किया जाता है।

संक्षिप्तिका

अग्निपुराण मेंइ से संक्षिप्तक कहा गया है। शिल्प के अर्थ में किसी वस्तु का संक्षिप्त रूप करना संक्षिप्तिका कहलाता है। धनंजय के अनुसार प्रथम नायक को हटाकर दूसरे नायक को उपस्थित करना अथवा नायक की एक दशा से हटाकर दूसरी में उपस्थित करना संक्षिप्तिका है।



---

१. मायेन्द्रजालयुद्धादि—बहुलाऽरभटी स्मृता।
संक्षिप्तकावपातौ च वस्तूत्थापननेव च॥
(अग्निपुराण- ३४०/१० का उत्तरार्द्ध एवं ११)

२. मायेन्द्रजाल-संग्राम-क्रोधोदभ्रान्तादिचेष्टितैः।
संयुक्तावधबन्धाद्यैरुद्धतारभटी मता॥
(साहित्यदर्पण- ६/३२)

३. मायेन्द्रजाल-संग्राम-क्रोधोद्भ्रान्तादिचेष्टितैः।
संक्षिप्तका स्यात्सम्फेटो, वस्तूत्थापनावपातने॥
(दशरूपक- २/५६)

४. आरभटप्रायगुणा तथैव, बहुवचनकपटा च।
दम्भानृतवचनवती त्वारभटी नाम विज्ञेया॥
(नाट्यशास्त्र- २२/५६)

अलंकार·विवेचन

काव्य को अधिक सौन्दर्यशाली एवं सशक्त बनाने वाले उपकारक तत्त्वों को अलंकार कहते हैं। अलंकार शब्द की व्याख्या है "अलंकरोतीत्यलंकार:" अर्थात् जो शब्द को सामर्थ्यपूर्ण बना देता है, वह अलंकार कहलाता है। दूसरी व्याख्या है "अलंक्रियतेऽनेनेत्यलंकार:" अर्थात् जिसके द्वारा काव्य को सजाया जाता है, उसे अलंकार कहते हैं। अत्यधिक अलङ्कार काव्य के अपकारक होते हैं।

अग्निपुराण एवं काव्यादर्श के अनुसार काव्य की शोभा में हेतुभूत धर्मों को अलंकार कहते हैं।[1] चन्द्रालोककार के मत में शब्दों एवं अर्थों की प्रसिद्धि द्वारा अथवा कविगत प्रौढिवशात् काव्य में हारादि आभूषणों की भाँति अलंकारों का सन्निवेश अतिशय मनोरम होता है।[2] इस प्रकार इन भिन्न-भिन्न समालोचकों द्वारा दी गयी भिन्न-भिन्न परिभाषाओं का एकमात्र सारांश निकलता है कि काव्य के उपकारक एवं शोभाधायक तत्त्व अलंकार हैं।

कविराज विश्वनाथ के मतानुसार अलंकार शब्द और अर्थ के उन धर्मों को कहा गया है जो मानव की शोभा बढ़ाने वाले हार, केयूर इत्यादि अलंकार की की भाँति काव्य के शरीर भूत शब्द और अर्थ की शोभा बढ़ाया करते हैं।[3] मम्मट का अभिमत है कि हारादि आभूषणों भाँति काव्य को जो अंगरूप होकर उपकृत करते हैं, वे ही अनुप्रास उपमादि अलंकार हैं।[4]

---

१. काव्यशोभाकरान् धर्मानलंकारान् प्रचक्षते ॥

अग्निपुराण—३४२/१७ का उत्तरार्द्ध एवं काव्यादर्श—२/१

२. शब्दार्थयोः प्रसिद्ध्या वा कवेः प्रौढिवशेन वा।
हारादिवदालंकारसन्निवेशो मनोहरः ॥

चन्द्रालोक—५।१

३. शब्दार्थयोरस्थिरा ये धर्माः शोभातिशायिनः।
रसादीनुपकुर्वन्तोऽ लंकारास्तेङ्गदादिवत् ॥

साहित्यदर्पण—१०।१

४. उपकुर्वन्ति तं सन्तं येनाङ्गद्वारेण जातु चित्।
हारादिवलंङ्कारास्तेऽनुप्रासोपमादयः ॥

काव्यप्रकाश—८।८

जब भिन्न-भिन्न आचार्यों ने अलंकारों का स्वरूप निर्णीत नहीं किया था तब भी काव्यों में अलंकारों का प्रयोग परिलक्षित होता था ।

वेदों में अलंकार

भारतीय आर्य भाषा के आदि ग्रन्थ ऋग्वेद में भी अनेक स्थलों पर अलंकारों का चमत्कार दृष्टिगोचर होता है। निरुक्त में उपमा के उदाहरण ऋग्वेद के अनेक मन्त्रो में हैं । उपमा के समान ही अतिशयोक्ति, व्यक्तिरेक, उत्प्रेक्षा आदि विविध अलंकार वेदों में दृष्टिगत होते हैं। इसी प्रकार ब्राह्मण ग्रन्थों एवं उपनिषदों में भी काव्य तत्त्व एवं अलंकारों आदि के अनेक उदाहरण उपलब्ध होते हैं। रामायण एवं महाभारत में भी उच्चकोटि का काव्यतत्त्व पर्याप्त मात्रा मेंउपलब्ध होता है। ध्वन्यालोक, काव्य प्रकाश आदि में इन महाकाव्यों केउदाहरण भी दिए गये हैं ।

अलंकार का महत्त्व

अलंकार की परिभाषाओं को ध्यान में रखते हुए अनादि काल से इसका प्रयोग देखते हुए इसका महत्त्व स्वयं स्पष्ट हो जाता है। आचार्य कुन्तक ने अलंकारों का महत्त्व प्रतिपादित करते हुए उन्हीं को ग्रन्थनिर्माण में कारण बतलाया है । उनके अनुसार ये लोकोत्तर चमत्कार उत्पन्न करते हैं ।[१]

पुराणों में अलंकार का स्वरूप-विवेचन

अलंकारों का महत्त्व निश्चित हो जाने पर यह प्रश्न स्वभावतः उपस्थित होता है कि काव्यगत लक्षणों को व्यवस्थित कैसे किया जाय। और काव्य के सौन्दर्य को परख कर कौन सा नाम दिया जाय ! यदि पूछा जाय कि यह कार्य किसने किया तो एक सीधा सा उत्तर है, लक्षणग्रन्थों ने इसमें पुराणों का महत्त्वपूर्ण योगदान है, जिनमें इस दृष्टि से दो ही प्रमुख हैं—अग्निपुराण एवं विष्णुधर्मोत्तरपुराण। नाटकीय तत्त्वों के विषय में महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ है "भरतमुनि का नाट्शास्त्र" |

अलंकारों का वर्गीकरण

कुछ अलंकार ऐसे हैं, जिनके सौन्दर्य पर अनायास ही दृष्टि जाती है, जो

---

१. लोकोत्तरचमत्कारकारिवैचित्र्यसिद्धये ।
काव्यस्यायमलंकारः कोऽप्यपूर्वो विधीयते ।।

वक्रोक्तिजीवित—१।२

सुनते ही हृदय को आह्लादित कर देते हैं और अल्पज्ञ श्रोता भी जिनका आनन्द ले सकता है, किन्तु वहीं कुछ अलंकार ऐसे भी हैं, जिनके रसास्वादन के लिए बौद्धिक व्यायाम की आवश्यकता पड़ती है। साथ ही बिना अर्थ की प्रतीति हुए उनका सौन्दर्य-पान नहीं हो सकता है। कुछ अलंकार मिश्रित भी होते हैं। इस आधार पर अलंकारों का निम्नांकित रीति से वर्गीकरण किया गया है।

१—शब्दालंकार

२—अर्थालंकार

३—उभयालंकार

अग्निपुराण में उपर्युक्त तीनों प्रकार के अलंकारों का स्पष्ट उल्लेख है। विष्णुधर्मोत्तर पुराण के "अनुप्रासयकमरूपकश्लेषालंकारकथनम्" नामक अध्याय में सब अलंकार का एक साथ ही परिगणित हुये हैं।

शब्दालंकार

जो अलंकारश्रुति साध्य हैं अथवा अर्थवैविध्य से चमत्कार उत्पन्न करते हैं, उन्हें शब्दालंकार कहते हैं—ऐसा अग्निपुराण में निर्दिष्ट है।[1]

शब्दालंकार में सौन्दर्य शब्दों के ऊपर आधारित रहता है। ये शब्द परिवर्तनसह्य नहीं होते। उदाहरणार्थ गीतगोविन्द का एक पद्य लिया जाता है : "ललितलवंगलतापारिशीलनकोमलमलयसमीरे"। यदि यहाँ "ललित', पद हटाकर "मधुर" पद कर दिया जाये तो वह सौन्दर्य नहीं उत्पन्न होगा, जो "ललित" पद के प्रयोग की स्थिति में होता है। शब्दालंकारों एवं अर्थालंकारों की सूची अग्निपुराण में स्पष्टतः दी गयी है। उसके अनुसार शब्दालंलारों की संख्या चार है-अनुप्रास, यमक, चित्र और दुष्कर।

अनुप्रास

अग्निपुराण के अनुसार पद और वाक्य में वर्णों की आवृत्ति का नाम अनुप्रास है।[2] आचार्य मम्मट ने वर्णसाम्य को अनुप्रास बतलाया है।[3]

---

१. ये व्युत्पादिना शब्दमलंकर्तुमिह क्षमाः।
शब्दालंकारानाहुस्तान् काव्यमीमांसकाः॥ अग्निपुराण ३४२।१९

२. स्यादावृत्तिरनुप्रासो वर्णानां पदवाक्ययोः।
(अग्निपुराण- ३४३/१)

३. वर्णसाम्यमनुप्रासः।
(काव्यप्रकाश- ९।१०४)

विश्वनाथ कविराज के अनुसार स्वर का वैषम्य होने पर भी जहाँ शब्दों का साम्य हो वहाँ अनुप्रास होता है।[१]

अग्निपुराण के अनुसार अग्नि देवता ने ही समस्त श्लोकों का उच्चारण किया है। किन्तु विष्णुधर्मोत्तर पुराण में मार्कण्डेय एवं वज्र के संवाद के अलंकारों के लक्षण उल्लिखित हैं। वज्र के द्वारा पूछने पर मार्कण्डेय ऋषि अनुप्रास का लक्षण स्पष्ट करते हुए कहते हैं कि एक वर्ण का पुनः पुनः विन्यास होना अनुप्रास कहलाता है।[२]

अग्निपुराण में अनुप्रास के निम्नांकित दो भेद वर्णित हैं--

(क) एकवर्णता वृत्ति (ख) अनेक-वर्णता-वृत्ति।

एकवर्णता की पाँच वृत्तियों का उल्लेख किया गया है, जिनके नाम हैं-मधुरा, ललिता, प्रौढा, भद्रा एवं परुषा। अग्निपुराण के अनुसारमधुरावृत्ति में वर्गों के तीसरे और चौथे वर्णों की आवृत्ति होती है। ये ह्रस्व स्वर "अ" द्वारा पृथग्भूत हो जाते हैं और तभी सौन्दर्य वृद्धि करते हैं। इन वर्णों का यदि संयोग होता भी है तो केवल नकार के साथ। यहाँ वर्ग्य वर्णों की आवृत्ति पाँच बार से अधिक नहीं होनी चाहिए। महाप्राण एवं ऊष्म वर्णों का संयोग भी परिहार्य होता है। लघु अक्षर सदैव उत्तरवर्ती होते हैं।[३]

ललितावृत्ति में अधिक बलवाले कठोर शब्दों का प्रयोग होता है। वीर रस के वर्णन में इसका प्रयोग अधिक समीचीन होता है।

प्रौढा वृत्ति में "प" तथा "ण" वर्ग के शब्दों का प्रयोग होता है। इस वृत्ति में "ट" वर्ग और वर्गो के पंचमाक्षर ऊर्ध्वरेफ से संयुक्त नही होते हैं।[४]

---

१. अनुप्रासः शब्दसाम्यं वैषम्येऽपि स्वरस्य यत्। -साहित्यदर्पण १०।३ का पूर्वार्द्ध

२, एकैकस्य तु वर्णस्य विन्यासे या पुनः पुनः विष्णुधर्मोत्तरपुराण १४।१
अर्थगत्यातु संख्यातमनुप्रासं पुरातनैः

३. मधुरायाश्च वर्गान्तादधौ वर्ग्यारुणौ स्वनौ।
ह्रस्वस्वरेणान्तरितौ संयुक्तत्वं नकारयोः॥
न कार्या वर्ग्यवर्णानामावृत्तिः पंचमाधिका।
महाप्राणोष्मसंयोजविमुक्तलघूत्तरौ॥ (अग्निपुराण- ६४३/३-४)

४. ललिताबलभूयिष्ठा प्रौढा या पणवर्गजा।
ऊर्ध्वरेफेण युज्यन्ते न टवर्गो न पंचमः॥ (अग्निपुराण-- ३४३।५)

ललिता और प्रौढ़ा की संक्षिप्त परिभाषा दी गई है।

उपर्युक्त वर्णों से अवशिष्ट वर्ण भद्रावृत्ति में प्रयुक्त होते हैं।[1] जैसा इसके नाम से स्पष्ट है, यह न तो मधुरा की भाँति मधुर है, न ललिता के समान प्रबल शब्दों से युक्त है और न ही प्रौढा के समान इसमें "प" एवं "ण" वर्णों का आधिक्य होता है। यह वृत्ति अवशिष्ट अक्षरों के प्रयोग से बनती है। मम्मट ने इसे कोमला वृत्ति नाम दिया है।[2] उद्‌भट आदि विद्वान् इसे ग्राम्या कहते हैं। अग्निपुराण में इन सबके विषय में बतलाते हुए लिखा है कि परुषा वृत्ति स्वनाम सिद्ध है। इसमें स्वसम्बन्धी अक्षरों के साथ ऊष्म वर्णों का संयोग रहता है। इसमें आकार को छोड़कर शेष स्वरों की आवृत्ति प्रचुर मात्रा में होती है। इसमें अनुस्वरार तथा विसर्ग द्वारा निरन्तर पारुष्य लाया जाता है। इसमें रेफ तथा आकार से संयुक्त श, ष, एवं स का प्रयोग होता है। अन्तःस्थ वर्णों से संयुक्त रेफ और हकार परुषता लाने में समर्थ होता है। इनके अतिरिक्त गुरु वर्ण तथा संयुक्त अक्षर भी परिपन्थि अर्थात् परुषता लाने में सक्षम होते हैं, किन्तु पंचम वर्ण नहीं होता। निन्दा में तथा शब्दानुवृत्ति में परुषा वृत्ति का प्रयोग होता है।

कर्णाटी, कौन्तली, कौन्ती, कोंकणी, वामनासिका, द्रावडी और मागधी नामक परुषा वृत्तियों में क्रमशः कवर्गादि पंचवर्गों, अन्तःस्थ वर्णों की आवृत्ति अधिकतया होती है। अग्निपुराण में सबसे अधिक विस्तार से इसी वृत्ति का वर्णन किया गया है।[3]

---

१. "भद्रायां परिशिष्टाः स्युः।" अग्निपुराण—३४३/६

२. कोमला परैः।" काव्यप्रकाश—९।११०

३. ————परुषा साऽभिधीयते।
भवन्ति यस्यामूष्माणः संयुक्तास्तातदक्षरैः॥
अकारवर्णमावृत्तिः स्वराणामतिभूयसी।
अनुस्वारविसर्गौ च पारुष्याय निरन्तरौ॥
शषसा रेफसंयुक्ताश्चाकारश्चापि भूयसा।
अन्तःस्था भिन्नमाभ्यां न हः पारुष्याय संयुतः॥
अन्यथाऽपि गुरुर्वर्णसंयुक्ते परिपन्थिनि।
पारुष्यायादिमांस्तत्र पूजिता न तु पंचमी॥
क्षेपे शब्दानुकाघ्रे च परुषाऽपि प्रयुज्यते।
अग्निपुराण—३४३।६-११

मम्मट ने ओजप्रकाश वर्णों से युक्त वृत्ति को परुषा कहा है।[1]

(२) यमक—

अग्नि पुराण में यमक अलंकार को एक स्वतन्त्र अलंकार न मान कर उसे अनेकवर्णगता वृत्ति नामक अनुप्रास का ही एक भेद स्वीकार किया है इसमें आवृत्त वर्णों के अर्थ भिन्न-भिन्न होते हैं और ऐसी आवृत्ति ही यमक कहलाती है।[2] यमक की यह परिभाषा बहुत लोकप्रिय रही। मम्मट ने भी इसी से मिलती जुलती परिभाषा यमक की दी है। उनके अनुसार सार्थक वर्णसमूहों का भिन्न २ अर्थों में अनेक बार आवृत्ति होने पर यमक अलंकार होता है।[3]

अग्नि पुराण में यमक के व्यपेत एवं अव्यपेत, ये दो भेद माने गये हैं। दण्डी ने भी यमक के इन भेदों को स्वीकार किया है।

व्यपेत

व्यपेत नामक यमक में वर्णों की आवृत्ति व्यवधान के साथ होती है। इसमें चमत्कार की न्यूनता होती है। अग्निपुराण में उक्त दोनों प्रकार के यमकों का स्पष्टतः उल्लेख है।[4] भोजराज ने भी यमक का महत्त्व स्वीकार करते हुए उसके व्यपेत और अव्यपेत नामक भेद किए हैं।[5]

अव्यपेत

अव्यपेत नामक यमक में वर्णों की आवृत्ति लगातार होती है। यमक का

---

१. ओजप्रकाशशकैस्तु परुषा।

काव्यप्रकाश—९।१०९

२. अनेक वर्णावृत्तिर्या भिन्नार्थप्रतिपादिका ॥
यमकः सोऽव्यपेतः व्यपेतश्चेति द्विधा।

(अग्निपुराण–३४३।११ का उत्तरार्द्ध एवं १२ का पूर्वार्द्ध)

३. अर्थे सत्यर्थभिन्नानां वर्णानां सा पुनः श्रुति र्यमकम्।

(काव्यप्रकाश—९।११७)

४. तदव्यपेतयमकं, व्यपेतयमकं तथा।
स्थानास्थानविभागाभ्यां पादभेदाच्चभिद्यते ॥

(सरस्वतीकण्ठाभरण—२।५९)

५. आनन्तर्यादव्यपेतं व्यपेतं व्यवधानतः।

(अग्निपुराण—३४३।१२ का उत्तरार्द्ध)

यही रूप कवियों में अधिक प्रिय है। साहित्यदर्पण में इसे पदावृत्तिरूपयमक कहा गया है।

विष्णुधर्मोत्तर पुराण के अनुसार समान आनुपूर्व्य वाले शब्दों के प्रयोग में यमक होता है। दूसरे शब्दों में, जहाँ एक ही शब्द कई बार आए एवं सौन्दर्य वृद्धि करे वह यमक अलंकार होता है।[1]

कविराज विश्वनाथ के अनुसार सार्थक स्वरव्यंजन-समुदाय का भिन्न-भिन्न अर्थों में क्रम से आवृत्ति होना यमक है।[2]

यह अलंकार हिन्दी के रीतिकालीन कवियों को बहुत प्रिय रहा। यमक अलंकार के असंख्य उदाहरणों से हिन्दी साहित्य भरा पड़ा है।

अग्निपुराण में यमक के कई भेद और उपभेद गिनाए गए हैं, किन्तु उनका विस्तार न करके केवल परिगणन किया गया है। उनमें से कुछ भेद तो लोक प्रचलित हुए, किन्तु कुछ अप्रचलित ही रहे और कवियों ने क्लिष्टता के कारण उन्हें अपनाना उचित नहीं समझा।[3]

सर्वप्रथम यमक के व्यपेत और अव्यपेत नामक दो भेद किए गए हैं। तदनन्तर दोनों भेदों के स्थान और पाद के क्रम से चार भेद होते हैं। स्थान-यमक के तीन भेद हैं—आदि-यमक, पादमध्य यमक, एवं पादान्त यमक। इसी प्रकार पादयमक के भी एकपाद, द्विपाद एवं त्रिपाद के क्रम से उत्तरोत्तर सोलह भेद हैं।

मम्मट ने पाद यमक के ग्यारह भेद किए हैं। किन्तु यह भेद प्रबन्ध काव्य रसास्वादन के मध्य गन्ने की गाँठ के समान ही कठोर एवं दुःखदायी है अतएव इसके लक्षण उन्होंने विस्तार से नहीं किए। उन्होंने जो ग्यारह भेद गिनाए हैं, वे इस भांति हैं—मुख, संन्दंश, आवृत्ति, गर्भ, सन्दष्टक, पुच्छ, पंक्ति, युग्मक,

---

१. शब्दाः समानानुपूर्व्या यमकं कीर्तितं पुनः।

(विष्णुधर्मोत्तर पुराण—तृतीय खण्ड १४।२)

२. सत्यर्थे पृथगर्थायाः स्वरव्यंजनसंहतेः।

क्रमेण तेनैवावृत्तिर्यमकं विनिगद्यते॥

(साहित्यदर्पण—१०।८)

३. तदेतत्काव्यान्तर्गतगे भूतम् इति नास्य भेदलक्षणं कृतम्।

(काव्यप्रकाश—९।पृ० ४०६)

परिवृत्ति, समुद्र तथा महायमक।

विष्णुधर्मोत्तर पुराण में यमक के सन्दष्टक तथा समुद्र नामक दो भेद किए गए हैं और समस्त पादयमक को दुष्कर कहा गया है।[1]

अन्य आलंकारिकों के मत को मान्यता प्रदान करते हुए दश प्रकार का यमक उल्लेखनीय माना जाता है—पादादि, पादमध्य, पादान्त, कांची, संसर्ग, विक्रान्त, आम्रेडित, पादादि, चतुर्व्यवसित एवं मालायमक। पुनः इनके भी स्वतन्त्र पदावृत्ति और अस्वतन्त्र पदावृत्ति ये दो प्रभेद तथा पुनः समस्त पदावृत्ति एवं असमस्त पदावृत्ति ये दो उपभेद हैं।

इन प्रभेदों को अधिक मान्यता न मिल सकी। अतः सम्प्रति ये नामशेष ही हैं। यमक में यथासम्भव वाक्य की भी आवृत्ति होती है। किसी भी वृत्ति से जो समानता अनुभव की जाती है वह चाहे रूप विन्यास की हो चाहे पदा विन्यास की, उस रससिद्ध उक्ति को अग्निपुराण के अनुसार अनुप्रास के अन्तर्गत मानना चाहिए।[2]

मम्मट, जयदेव आदि आचार्यों ने एक स्वतंत्र अलंकार मानते हुए स्वतन्त्र रूप से उसका स्वरुप-अश्लेषण किया है। मम्मट के अनुसार सार्थक वर्ण समूहों के भिन्न-भिन्न अर्थों में आवृत्ति होने पर यमक होता है।[3]

(२) चित्र

चित्र का अर्थ है "बहुत विचित्र"। इसका अन्य अर्थ चितकबरा है। अतएव अपने दोनों अर्थों को पूर्णता प्राप्त कराता हुआ चित्रालंकार वास्तव में

---

१. आद्यो मध्ये तथैवान्ते पादस्य तु तदिष्यते।
सन्दष्टकसमुद्राख्यौ तथैव यमकौ मतौ।
समस्तपादयमकं दुष्करं परिकीर्तितम्॥
(विष्णुधर्मोत्तर पुराण—तृयती खण्ड—१४।३)

२. यया कयाचिद् वृत्त्या यत्समानमनुभूयते।
तद्रूपपादिपदः सन्ति सानुप्रासा रसावहा॥
(अग्निपुराण—३४३।२१)

३. अर्थे सत्यर्थभिन्नानां वर्णानां सा पुनः श्रुतिमर्यकम्।
(काव्यप्रकाश—९।११७)

बड़ा विचित्र और कई भेदों से युक्त होने के कारण चितकबरा भी है। भोजराज चित्रकाव्य के विषय में कहते हैं कि व्यंजन के उच्चारण के स्थान, विभिन्न स्वर, गति तथा बन्ध के विषय में काव्य में जो छः प्रकार के नियम हैं, विद्वान् उसे ही चित्र काव्य कहते हैं।[1]

गोष्ठी में पाठमात्र से कुतूहल उत्पन्न करनेवाले कवि का वाग्बन्ध चित्र कहलाता है। नाना प्रकार के अर्थों के अनुयोग से इसके सात भेद होते हैं-प्रश्न, प्रहेलिका, गुप्तपद, च्युतपद, दत्तपद, च्युतदत्त पद और समस्या।[2]

(१) प्रश्न

जहाँ समान वर्णों के विन्यास द्वारा उत्तर दिया जाता है, उसे प्रश्न कहते हैं। इस अलंकार का विन्यास कष्टसाध्य होता है। अतएव यह अलंकार कवियों में लोकप्रिय नहीं हो सका। इस अलंकार के दो भेद हैं:--

(१) एकपृष्ट प्रश्नोत्तर तथा (२) द्विपृष्टप्रश्नोत्तर। एक पृष्ठप्रश्नोत्तर के भी दो भेद हैं—समस्त और व्यस्त। चन्द्रालोककार ने इसे प्रश्नोत्तर अलंकार नाम से अभिहित किया है।[3]

(२) प्रहेलिका

जहाँ द्व्यर्थक गुह्य शब्दों का प्रयोग हो, उसे प्रहेलिका कहते हैं। इसके दो भेद हैं—शाताब्दी और आर्थो। जिसका ज्ञान शब्द द्वारा हो जाये, वह शाब्दी तथा जिसका ज्ञान अर्थ द्वारा हो, वह आर्थी होती है। इसके भी छः भेदों का उल्लेख है।

अग्निपुराण में प्रहेलिका के विषय में अधिक नहीं बतलाया गया है, किन्तु विष्णुधर्मोत्तर पुराण में पूरा एक अध्याय ही प्रहेलिका वर्णन के लिएदिया गया

---

१. वर्णस्थानस्वराकारगतिबन्धान्प्रतीह यः।
नियमस्तद्बुधैः षोढा चित्रमित्यभिधीयते॥
(सरस्वतीकण्ठाभरण—२।१०६)

२. गोष्ठ्यां कुतूहलाधायी वाग्बन्धश्चित्रमुच्यते।
प्रश्नः प्रहेलिका गुप्तं च्युतं दत्तं तथोभयम्॥
(अग्निपुराण—३४३।२२)

३. प्रश्नोत्तरं क्रमेणोक्तं स्थूलमुत्तरमुत्तरम्।
(चन्द्रालोक—५।१०८)

है। मार्कण्डेय ऋषि ने वज्र को प्रहेलिका के लक्षण समझाते हुए बतलाया है कि काव्य में जो दोष गिनाए जाते हैं, उनमें से कुछ प्रहेलिका का रूप धारण कर लेते है और उनको दोष न समझकर उनको काव्य में चमत्कारप्रदायी प्रहेलिका समझना चाहिए। प्रहेलिका का विन्यास एक या दो श्लोकों में ही करना चाहिए न कि कई श्लोकों में।

दण्डी के अनुसार रस में व्याघात उत्पन्न करने के कारण प्रहेलिका को अलंकारों में स्थान नहीं दिया जा सकता है। फिर भी आमोद-गोष्ठी में विचित्र प्रकार के वाग्व्यवहारों से मनोविनोद में लोगों की भीड़ में, गुप्त भाषण करने में तथा दूसरों को अर्थानभिज्ञ बनाकर उपहासपात्र बना देने में इसका उपयोग होता है। अतएव इसका भी निरूपण आवश्यक है।[1]

दण्डी ने प्रहेलिका के सोलह प्रकार बतलाए हैं। अन्य आचार्यों ने उक्त सोलह प्रकारों को मान्यता प्रदान की है। इसके पूर्व विष्णुधर्मोत्तर पुराण में इसके सोलह भेद बताए गए हैं। वहाँ मार्कण्डेय और वज्र के संवाद के अन्तर्गत यह उल्लेख है कि काव्य में जो दोष गिनाए जाते हैं, उनमें से कुछ प्रहेलिका का रूप धारण कर लेते हैं। उन्हें दोष न समझकर काव्य में चमत्कारप्रदायी प्रहेलिका समझना चाहिए। उक्त प्रहेलिकाओं का विन्यास एक या दो श्लोकों में ही करना चाहिए, कई श्लोकों में नहीं[2]।

विष्णुधर्मोत्तर पुराण में परिगणित प्रहेलिका के भेद निम्नलिखित रीति से हैं—

वन्दिता

जिसमें मात्रा के द्वारा अर्थ का गोपन होता है उसे वन्दिता कहते हैं।[3]

---

१. क्रीडागोष्ठीविनोदेषु तज्ज्ञैराकर्णमन्त्रणे।
परव्यामोहने चापि सोपयोगा प्रहेलिका॥ (काव्यादर्श—३।९७)

२. काव्ये येऽभिहिता दोषाः कैश्चित्तेभ्यः प्रहेलिका।
कर्तव्याश्च तथैवान्यास्तातासां वक्ष्यामि लक्षणम्॥
श्लोकेनैकेन वा द्वाभ्यां कर्तव्या तु नरोत्तम।
न कर्तव्याश्च ता राजन् बहुश्लोकनिबन्धनाः॥
(विष्णुधर्मोत्तरपुराण तृतीय खण्ड—१६।१०२)

३. तस्य मात्रावशादर्थो गोप्यते सा समागता।
पर्यायवचनाद्यस्या वन्दिता सा प्रकीर्तता॥
(विष्णुधर्मोत्तरपुराण तृतीय खण्ड—१६।३)

दुःखिता

मधुर और छिपे हुए अर्थों वाली प्रहेलिका उत्तम है और अप्रसिद्ध पर्यायों से युक्त दु:खिता अथवा दूषिता होती है।[1]

परिहासिका

अन्तर्निहित कल्पना से युक्त प्रहेलिका परिहासिका कही जती है, जिसमें शब्दों का रूप समान हो किन्तु अन्य शब्दों से उसे प्रकट किया जाय।[2]

दण्डी के मत में जब यौगिक शब्दों की परम्परा रुढ अर्थ बतलाती है, तब उवयुंक्त प्रहेलिका होती है। दण्डी ने इसे परिहासिका नाम दिया है।[3]

परुषा

दुर्बोध अक्षरों से युक्त प्रहेलिका अपनी कठोरता के कारण परुषा नाम से व्यपदिष्ट होती है।[4] इसे सिद्ध करना कुछ कठिन होता है। दण्डी ने भी इसे अमात्रव्युत्पादितश्रुति कहा है।[5]

परुष नामक प्रहेलिका में शास्त्रीय सूत्रों से सिद्ध होने पर भी किसी वाक्यार्थ का योगार्थं अप्रसिद्ध होता है।

संख्याता

जिस प्रहेलिका को केवल संख्या के आधार पर सिद्ध किया जाता है, उसे

---

१. वृत्तान्तगोपिकान्ताया पदैर्व्यवहितैर्भवेत्।
अप्रसिद्धैस्तु पर्यायैर्दुःखिता नाम सा मता॥
(विष्णुधर्मोत्तरपुराण तृतीय खण्ड—१६।४)

२. कल्पनागोपितार्थात्तु कविता परिहासिका।
समानरूपतुल्यार्थैः शब्दैरन्यैः प्रकीर्तिता॥
(विष्णुधर्मोत्तर पुराण तृतीयखण्ड—१६।५)

३. योगमात्रात्मिका नाम या स्यात् सा परिहासिका।
(काव्यादर्श—३।१०४ का पूर्वार्द्ध)

४. दुर्बोधाक्षरबन्धा च परुषा नामतः स्मृता।
(विष्णुधर्मोत्तरपुराण—तृतीय खण्ड-१६।६)

५. परुषा लक्षणास्ति त्वमात्रव्युत्पादितश्रुतिः।
(काव्यादर्श—३।१००)

संख्याता नामक प्रहेलिका कहते हैं।[1]

दण्डी के अनुसार जहां संख्यान व्यामोह का कारण होता है, वहाँ संख्याता होती है[2]।

कल्पिता

अर्थान्तर कल्पना के द्वारा जिसे प्रकट किया जाये, उसे कल्पिता नामक प्रहेलिका कहते हैं[3]। दण्डी ने इसी को प्रकल्पिता प्रहेलिका कहा है[4]।

नामान्तरिता

किसी अन्य संज्ञा के भ्रम से जो प्रहेलिका उत्पन्न की जाती है, उसे नामान्त-रित प्रहेलिका कहते हैं।[5] दण्डी के अनुसार यहाँ नाम में नाना अर्थों की कल्पना होती है।[6]

निभृता

निभृता का शाब्दिक अर्थ छिपाना होता है। इसमें भी समान अर्थो का निबन्धन करके अर्थ छिपाकार प्रहेलिका को प्रकट किया जाता है। इसमें अर्थ का छिपा होना ही सौन्दर्य को उत्पन्न करता है।[7]

---

१. संख्यामात्रसमानत्वात्संख्याताख्या तथोच्यते।

(विष्णुधर्मोत्तर पुराण—३।१६।६)

२. संख्याता नाम संख्यानं पत्रव्यामोहकारणम्।

(काव्यादर्श—३।१०१)

३. अर्थान्तरकल्पनया कल्पिता सा तथोच्यते।

(विष्णुधर्मोत्तरपुराण—३।१६।७ का पूर्वार्द्ध)

४. अन्यथा भासते यत्र वाक्यार्थः सा प्रकल्पिता।

(काव्यादर्श—३।१०१ का उत्तरार्द्ध

५. अन्यस्य संज्ञा व्यामोहान्नामान्तरितसंज्ञिता।

विष्णुधर्मोत्तर पुराण—३।१६।७ का उत्तरार्द्ध

६. सा नामान्तरिता यस्यां नाम्नि नानार्थकल्पना।

काव्यादर्श—३।१०० का पूर्वार्द्ध

७. अर्थव्यामोहता प्रोक्ता निभृता च महानृप।
समानशब्दकथिता शब्दतुल्यनिबन्धना॥

विष्णुधर्मोत्तरपुराण—३।१६।८

दण्डी ने निभृता की परिभाषा देते हुए लिखा है कि जहाँ पर प्रकृत अर्थ का गोपन हो, वहाँ निभृता नामक प्रहेलिका होती है।[1]

व्यामूढा

अर्थ के पलटने से जो प्रहेलिका दुर्बोध हो जाती है, उसे व्यामूढा कहते हैं।[2]

दण्डी ने इसे संमूढ़ा नाम दिया है। उनके अनुसार जिसमें साक्षात् अर्थ के के झलकने पर भी अर्थ स्पष्ट नहीं होता, उसे संमूढा प्रहेलिका कहते हैं।[3]

गुच्छा

नाना प्रकार के बन्धों में बाँधी गयी प्रहेलिका को गुच्छा कहते हैं। जैसे कई फूलों के एकत्र होने पर उसे फूलों का गुच्छा कहते हैं, इसी प्रकार कई वृत्तों का समूह होने के कारण यह भी गुच्छा कहलाता है।[4]

संकीर्णा

प्रकट रूप में एक दिखने वाली किन्तु भिन्न-भिन्न अर्थ को छिपाने वाली प्रहेलिका संकीर्णा कहलाती है। यह उपयुक्त अर्थ से युक्त होती है।[5] दण्डी भिन्न-भिन्न लक्षणों को संकर होने पर संकीर्णा मानते हैं।[6] इसका स्पष्ट अभिप्राय यह है कि जिसमें कई प्रहेलिकाओं के लक्षण घटित हों, वह संकीर्णा नामक प्रहेलिका होती है।

---

१. निभृता निभृतान्यार्था तुल्यधर्मस्पृशा गिरा।
काव्यादर्श—३।१०२ का उत्तरार्द्ध

२. अर्थानुलोमदुर्बोधा व्यामूढाति तथोच्यते।
विष्णुधर्मोत्तरपुराण—३.१६।९ का पूर्वार्द्ध

३. संमूढा नाम या साक्षान्निर्दिष्टार्थाऽपि मूढये।
काव्यादर्श—३।१०३ का उत्तरार्द्ध

४. गुच्छाख्या कथिता वृत्तेर्नानाबन्धनिबन्धना।
विष्णुधर्मोत्तरपुराण—३।१६।९ का उत्तरार्द्ध

५. एकोमयं बहुच्छन्ने यथार्थपरिगोपिते।
सकीर्णा सम्भवोपेता या तदर्थकरो भवेत्॥
विष्णुधर्मोत्तर पुराण–३।१६।१०

६. संकीर्णा नाम सा यस्यां नानालक्षणसंकरः।
काव्यादर्श—३।१०५ का उत्तरार्द्ध

व्यभिचारिणी

जहाँ शब्दों के योग से एक अर्थ से कई अर्थ निकलते हों, उसे व्यभिचारिणी नामक प्रहेलिका कहते हैं।[१]

वृत्तबन्धनिदर्शिता

जो प्रहेलिका मात्रा के ऊपर आधारित हो तथा मात्रा के थोड़े से फेर से ही जिसका अर्थ बदल जाये, उसे वृत्तबन्धनिदर्शिता नामक प्रहेलिका कहते हैं।[२]

वर्णभ्रष्टा

एक अक्षर के परिवर्तन से जिसका अर्थ भिन्न हो जाये, उसे वर्णभ्रष्टा प्रहेलिका कहते हैं।[३]

लेशा

जिस कथ्य में लेशमात्र परिवर्तन से भी परिवर्तन हो जाए एवं उसके काल तथा स्वरूप में अन्तर आ जाये, उसे लेशा कहते हैं।[४]

इन प्रहेलिकाओं के प्रणयन में कवियों को एक बात स्पष्टतः ध्यान में रखनी पड़ती है कि कहीं अश्लीलता की गन्ध न आ जाय। अश्लील काव्य वर्ज्य माना गया है।

दण्डी ने प्रहेलिकाओं के अन्य भेद इसी कारण स्वीकार नहीं किए, क्योंकि उनमें प्रहेलिकाओं के लक्षण पूर्णरूपेण नहीं प्रकट होते। विष्णुधर्मोत्तरपुराण में

---

१. तदर्थकरी यत्रार्थो ज्ञायतेऽन्यार्थकामुकः।
राजन् शब्दवशात् सा च कथिता व्यभिचारिणी॥
विष्णुधर्मोत्तरपुराण—३।१६।११

२. उक्तार्थे वृत्तबन्धेन मात्राभिः स्थापिता तथा।
नष्टार्था वा च सा प्रोक्ता वृत्तबन्धनिदर्शिता॥
विष्णुधर्मोत्तरपुराण—३।१६।१२

३. नष्टाक्षरा तु कथिता विनैकेन तदार्थता।
अन्यार्थता तथैवोक्ता वर्णभ्रष्टा नरेश्वर॥
विष्णुधर्मोत्तरपुराण—३।१६।१३

४. कालस्य रूपरूपाणां व्याख्यानेन तदार्थता।
बीजमात्रेण लेशाख्याः भूमिपालः प्रकीर्तितः॥
विष्णुधर्मोत्तरपुराण—३।१६।१४

इनके गुप्त पद आदि अनेक भेद किये गये हैं जो निम्नोक्त हैं—

गुप्तपद

जिस वाक्य में वाक्यांग गुप्त होते हुए भी भावी अर्थ को सिद्ध करनेवाला हो तथा उस अंग की ही आकांक्षा से जब इसका समावेश गूढ होते हुए भी किया जाता है, उसे गुप्त पद करते हैं।[1]

च्युतपद

जहाँ किसी वाक्यांग के स्खलन से किसी अन्य अर्थ की प्रतीति हो तथा सम्बन्ध भी निर्वाह हो जाय, उसे च्युतपद कहते हैं। यह चार प्रकार का होता है—स्वरच्युत, व्यंजनच्युत, अनुस्वारच्युत एवं विसर्गच्युत[2]।

दत्तपद

जब किसी वाक्य के किसी अंश में अन्य वाक्यांश देने मात्र से द्वितीय अर्थ की प्रतीति होती है, उसे दत्त पद कहते हैं। इसके भी पूर्ववत् स्वर, व्यंजन, अनुस्वार और विसर्ग भेद, ये चार भेद होते हैं।[3]

च्युतदत्तपद

जहाँ हटाए गए अक्षर के स्थान पर किसी अन्य वर्ण के रखने से अर्थान्तर की प्रतीति होती है, च्युतदत्त पद कहते हैं।[4]

---

१. यस्मिन् गुप्तेऽपि वाक्यांगे भाव्यर्थो परमार्थिकः।
तदंगे विहिताकांक्षस्तद्गुप्तं गूढमप्यदः॥
अग्निपुराण—३४३।२६ एवं २७

२. तदंगविहिताकांक्षस्तच्च्युतं स्याच्चतुर्विधम्।
स्वरव्यंजनबिन्दूनां विसर्गस्य च विच्युतेः॥
(अग्निपुराण—३४३।२८)

३. दत्तेऽपि यत्र वाक्यांगे द्वितीयोऽर्थः प्रतीयते।
दत्तं तदाहुस्तद्भेदाः स्वराद्यैः पूर्ववन्मता॥
(अग्निपुराण—३४३।२९०

४. अपनीताक्षरस्थाने न्यस्ते वर्णान्तरेऽपि च।
भासतेऽर्थान्तरं यत्र च्युतदत्तं तदुच्यते॥
(अग्निपुराण—३४३।३०)

प्रहेलिकाओं का अलंकार की दृष्टि से भले ही अधिक महत्व न हो, मनोरंजन की दृष्टि से ये अधिक महत्वपूर्ण होते हैं।

समस्या

भिन्न-भिन्न श्लोकांशों से सुनियोजित पद्य का नाम समस्या है। इसी का एक रूप कवि-गोष्ठियों में समस्यापूर्ति है। इसके दो भेद हुए—प्रथम आत्म-संकर, जिसमें एक ही पद्य के अंशों का मेल या संकर रहता है तथा द्वितीय पर संकर जिसमें अन्य पद्यों का मिश्रण होता है।[1]

दुष्कर

यह अलंकार अग्निपुराण में उल्लिखित शब्दालंकारों में अन्तिम है। दुष्कर अलंकार में अर्थज्ञान कष्ट साध्य एवं क्लिष्ट होता है। इसमें कवि के शब्दादि गुम्फन की सामर्थ्य का प्रदर्शन होता है। इसमें नाम के अनुरूप कठिनता एवं तज्जन्य नीरसता होती है। फिर भी विदग्धों को यह प्रिय है। इसके तीन भेद हैं—नियम, विदर्भ एवं बन्ध।

नियम

कवि—प्रतिज्ञानुसार शब्दों द्वारा रमणीयता की कल्पना नियम कहलाती है। रमणीयता तीन प्रकार से लायी जाती है—यथास्थान शब्दों के विन्यास द्वारा, स्वर के संयोग द्वारा एवं व्यंजनों के विन्यास द्वारा[2]।

विदर्भ

प्रतिकूल शब्दों की अथवा अर्थों की कविकृत उत्कृष्ट कल्पना ही विदर्भा कहलाती है। इसी प्रकार अनुकूल शब्दों अथवा अर्थों की रचना भी विदर्भा कहलाती है। यह प्रतिकूलता एवं अनुकूलता शब्द और अर्थ दोनों के द्वारा होती है।

---

१. सुश्लिष्टपद्यमेकं यन्नानाश्लोकांशनिर्मितम्।
सा समस्या परस्यात्मपरयोः कृतिसंकरात्॥

(अग्निपुराण—३४३।३१)

२. कवेः प्रतिज्ञानिर्माणरम्यस्य नियमः स्मृतः।

(अग्निपुराण-३४३।३३ एवं ३४)

स्थानेनापि स्वरेणाऽपि व्यंजनेनाऽपि स त्रिधा।

बन्ध—

अनेक प्रकार से आवृत्त होने वाले वर्णों के विन्यास से प्रसिद्ध वस्तुओं जैसे खड्ग, मुरज, कमल आदि की शिल्प–कल्पना को बन्ध कहा जाता है।

चन्द्रालोककार एवं मम्मट ने बन्ध को चित्रलंकार के अन्तर्गत रखा है। चन्द्रालोक में खड्गबन्ध का उल्लेख किया गया है। काव्यप्रकाशकार मम्मट ने इसे चित्र नाम देते हुए यह स्पष्ट किया है कि जहाँ वर्णो की खड्गादि आकृति कल्पना के प्रति हेतुता होती है हाँ चित्रालंकार होता है।[1]

मम्मट ने काव्यप्रकाश में खड्गबन्ध, मुरजबन्ध, पद्मबन्ध और सर्वतोभद्र के लक्षण एवं उदाहरण दिए हैं। इसमें शब्दों की गति का विशेष महत्त्व होता है। इसमें प्रयुक्त होने वाले शब्द अधिकतर परवर्तनसह्य होते हैं तथा आगे और पीछे दोनों ओर से पढ़े जाने पर समान रूप और समान अर्थ में रहते हैं।[2] यह आट प्रकार का होता है- गोमूत्रिका, बन्ध, अर्थभ्रमण, सर्वतोभद्र, अम्बुज, चक्र, चक्राब्ज, दण्ड एवं मुरज।[3]

अग्निपुराण में इन बन्धों के नाममात्र संकीर्तित हैं। किसी का लक्षण या उदाहरण नहीं दिया गया है। इनमें से कुछ तो अपनी लोकप्रियता बनाये रख सके और कुछ अपनी क्लिष्टता के कारण उपेक्षित ही रह गये।

दुष्कर नामक अलंकार के वर्णन के बाद पुनः अभिनयादि-निरूपण नामक अध्याय में ९ प्रकार के शब्दालंकारों का कथन किया गया है, जो निम्नोक्त हैं- छाया, मुद्रा, उक्ति, युक्ति, गुम्फन, वाकोवाक्य, अनुप्रास, चित्र, दुष्कर।

पूर्ववर्णित अन्तिम तीन अलंकारों के अतिरिक्त शेष के लक्षण निम्नांकित हैं
(१) छाया-अन्य के कथन की अनुकृति अथवा पूर्णतया उसी प्रकार अनुसरण छाया कहलाती है। इसके निम्नोक्त चार भेद हैं- लोकोक्ति, छेकोक्ति अर्भकोक्ति एवं मत्तोक्ति।[4]

---

१. तच्चित्रं यत्र वर्णानां खड्गाद्याकृतिहेतुता। (काव्यप्रकाश-९/१२)

२. अनेकधावृत्तवर्णाविन्यासैः शिवकल्पना। (अग्निपुराण-३४३/३५)
तत्तत्प्रसिद्धवस्तूनां बन्ध इत्यादिधीयते

३. गोमूत्रिकार्थभ्रमणं सर्वतोभद्रमम्बुजम् (अग्निपुराण-३४३/३६)
चक्र चक्राब्ज दण्डो मुरजश्चेति चाष्ठधा॥

४. तत्रान्योकतेरनुकृतिश्छाया साऽपि चतुर्विधा।
लोकच्छेकार्भकोक्तीनां मत्तोक्तिरनुकारतः॥ (अग्निपुराण-३४२/२१)

लोकोक्ति

लोकप्रसिद्ध कथन को लोकोक्ति कहते हैं। यह लोकप्रचलित होने के साथ सर्वमान्य होती है। जब यह लोकोक्ति प्रचलित होती है तो विद्वान् इसे लोकोक्ति छाया नाम देते हैं।[1] भोजराज ने छयाअलंकार का लक्षण देते हुए लिखा है कि दूसरों के कथन का अनुकरण करना छायालंकार है। वह लोक की उक्ति, छेक की उक्ति, अर्भक की उक्ति की छाया, उन्मत्त की उक्ति की छाया, पोटा की उक्ति की छाया तथा मत्त की उक्ति की छाया के भेद से छः प्रकार की है।[2]

अप्पय दीक्षित ने भी इसे अलंकार माना है।[3]

छेकोक्ति

छेक का अर्थ विदग्ध होता है। कलाओं में प्रदर्शित बुद्धि-कौशल वैदग्ध्य कहलाता है। इसी बुद्धि-कौशल को प्रदर्शित करने वाली कवि की उक्तियों को छेकोक्ति छाया कहते हैं।[4] अप्पय दीक्षित का मत है कि जहां लोकोक्ति के प्रयोग में कोई अर्थ छिपा हो वहाँ छेकोक्ति अलंकार होता है।[5]

अर्भकोक्ति

अपरिपक्व मस्तिष्क वाले व्यक्ति की उक्तियों को अर्भकोक्ति कहते हैं। इस प्रकार इसके नाम से इसका अपरिपक्वता से सम्बन्ध होना परिलक्षित होता है। इस प्रकार की अर्भकोक्तियों की अनुकर्त्री उक्ति को अर्भकोक्ति छाया कहते हैं।

---

१. आभाणको हि लोकोक्तिः सर्वसामान्य एव वा।
यानुधावति लोकोक्तिश्छायामिच्छन्ति तां बुधाः॥
(अग्निपुराण- ३४२/२२)

२. अन्योक्तेनामनुकृतिश्छाया सापिहि षड्विधा।
लोकच्छेकार्भकोन्मत्तपोटाभत्तोक्ति-भेदतः॥

३. लोकप्रवादानुकृतिर्लोकोक्तिरिति भण्यते। (कुवलयानन्द- १५७)

४. छेका विदग्धा वैदग्ध्यं कलासु कुशला मतिः।
तामुल्लिखन्ती छेकोक्तिश्छाया कविभिरिष्यते॥ (अग्निपुराण-३४२/२३)

५. छेकोक्तिः यत्र लोकोक्तिः स्यादर्थान्तरगर्भिता।
(कुवलयानन्द-१५८)

मत्तोक्ति

शब्दाडम्बर तथा अश्लील वचनों से सम्बन्धित उक्ति तथा किसी प्रमत्त व्यक्ति के समान कही गयी उक्ति मत्तोक्ति छाया कहलाती है। ठीक से प्रयोग होने पर यह उक्ति सुन्दर लगती है।[1]

(२) मुद्रा

किसी विशेष अभिप्राय से कवि के बुद्धि वैभव को प्रदर्शित करने वाली उक्ति जो पाठकों का मनोरंजन करती है, मुद्रा कहलाती है।[1] उस उक्ति को शय्या भी कहा जाता है। भोजराज मुद्रा अलंकार का लक्षण देते हुए लिखते हैं कि जब वाक्य में विशेष प्रयोजन से किसी पद का सन्निवेश किया जाता है, तब उस आनन्ददायी कारण को काव्यानन्द जानने वाले मुद्रा अलंकार के नाम से जानते हैं।[2]

(३) उक्ति

उक्ति नामक अलंकार में चतुरता से पाठकों को प्रसन्न करने की क्षमता होती है। अग्निपुराण में लिखा है कि उक्ति वह अलंकार है, जिसके अन्तर्गत कोई उत्पन्न अर्थ लौकिकार्थ-विधि से सज्जनों के चित्त को तृप्त करता है।[3]

उक्ति के छः भेद है—विधि, निषेध, नियम, अनियम, विकल्प तथा परिसंख्या। भोजराज ने उक्ति की परिभाषा देते हुए कहा है कि जहाँ पर किसी बिध्यात्मक वाक्य अथवा निषेधात्मक वाक्य के द्वारा कोई विशेष अर्थ की प्रतीति हो तो उस काव्य में उक्ति नामक अलंकार होता है। इसके विधि,

---

१. विलुप्ताक्षरमश्लीलं वचो मत्तस्य तादृशी।
या सा भवति मत्तोक्तिश्छायोक्ताऽति शोभते॥
(अग्निपुराण-३४२/२५)

२. साभिप्रायस्य वाक्ये यद्वचसो विनिवेशनम्।
मुद्रां तां मुत्प्रदायित्वात्काव्यमुद्राविदो विदुः॥
(सरस्वतीकण्ठाभरण-२/४०)

३. उक्तिः सा कथ्यते यस्यामर्थः कोऽप्युपपत्तिमान्।
लोकयात्रार्थविधिना विनोति हृदयं सताम्॥
(अग्निपुराण-३४२/२७)

निषेध, अधिकार, विकल्प, नियम और परिसंख्या—ये छः भेद हैं।[1] जहाँ कोई पहले से हो रहा हो, उसे कराना विधि है। किसी हो रहे कार्य को रोक देना निषेध है। किसी कार्य के फल का द्योतन अधिकार है। दो समान स्तर के पदार्थों में एक का बाध करके दुरे से सम्बन्ध रखना विकल्प है। किसी से दूर हटने का विधान नियमहै। विधि और निषेध से क्रमशः निषेध और विधि की प्राप्ति परिसंख्या है।

(४) युक्ति

कुवलयानन्द में दी परिभाषा के अनुसार युक्ति नामक अलंकार उस समय होता है जब अपने मर्म को छिपाने के लिए दूसरों की वंचना की जाए।[2] अग्नि-पुराण के अनुसार किन्हीं दो अयुक्त वाच्य और वाचक को परस्पर मिलाने वाली कल्पना को मनीषियों ने युक्ति कहा है।[3] इसके प्रकरणानुसार इसके पद, पदार्थ, वाक्य, वाक्यार्थ, विषय और प्रपंच छः भेद होते हैं। वस्तुतः युक्ति कोई अलग अलंकार न होकर व्याजोक्ति का एक प्ररोह मात्र है।

(५) गुम्फना

अग्निपुराण के अनुसार गुम्फना की परिभाषा निम्नलिखित हैं— "जिस वाक्य रचना में शब्द और अर्थ का क्रम भली भाँति रखा जाय उसे गुम्फना कहते हैं।" इसके शब्दसाम्य, अर्थ साम्य तथा शब्दों के स्वाभाविक क्रम के अनुसार तीन भेद होते हैं।[4]

---

१. विधिद्वारेण वा यत्र निषेधेनार्थवा पुनः।
प्रतीयते विशिष्टोऽर्थः, सोक्तिरत्राभिधीयते॥
विधेरथ निषेधात्स्यादधिकाराद्विकल्पतः।
नियमात्परिसंख्याया उपाधेः सह षड्विधा॥
(सरस्वतीकण्ठाभरण-२/४२, ४३)

२. युक्तिः परातिसन्धानं क्रियया मर्मगुप्तये। (कुवलयानन्द- १५६)

३. अयुक्तयोरिव मिथो वाच्यवाचकयोर्द्वयोः॥
योजनायै कल्पमाना युक्तिरुक्ता मनीषिभिः॥
(अग्निपुराण-३४२/२९)

४. गुम्फना रजना चार्थां शब्दार्थक्रमगोचरा।
शब्दानुकारादर्थानुपूर्व्यर्थेयं क्रमात् त्रिधा॥
अग्निपुराण—३४२।३१

(६) वाकोवाक्य

इसके नाम से ही प्रकट है कि वाक्य के अन्दर छिपा हुआ वाक्य। अग्नि-पुराण में लिखा है कि जिस वाक्य में उक्ति-प्रत्युक्ति तार्किक होती है, उसे वाकोवाक्य कहते हैं।[१] वाकोवाक्य के नाम से प्रतीत होता है कि इसमें वाक्य के भीतर ही वाक्य छिपा होता है। इस वाक्य-रचना में अत्यधिक चतुर व्यक्ति समर्थ होते हैं। इसके दो भेद किए गए हैं—ऋजु और वक्रोक्ति। ऋजु के अप्रश्न ऋजु और प्रश्न ऋजु—ये दो भेद हैं। वक्रोक्ति के भी भंगिमा एवं काकु के भेद से दो भेद हो जाते हैं। अन्य अलंकारिकों ने वक्रोक्ति को अर्थालंकार के अन्तर्गत माना है तथा बहुत अधिक महत्त्व दिया है। भामह ने तो इसे सब अलंकारों का मूल बतलाते हुए लिखा है कवियों को प्रयत्न करके वक्रोक्ति अलंकार का विधान करना चाहिए, क्योंकि इसके बिना कोई भी अलंकार सम्भव नहीं है।[२]

अर्थालंकार

अग्निपुराण के अन्तर्गत अग्नि देवता यह स्पष्ट करते हैं कि अर्थों के चमत्कार को अर्थालंकार कहते हैं। इसके बिना काव्य शब्द सौन्दर्य समन्वित होते हुए भी हृदय स्पर्शी नहीं होता है। अर्थालंकार विहीन काव्य कृति विधवा के समान होती है। ये अलंकार संख्या में आठ हैं।[3] यथा स्वरूप, सादृश्य, उत्प्रेक्षा अतिशय, विभावना, विरोध, हेतु, और सम।

अग्निपुराण में वर्णित अलंकार अन्य आचार्यों द्वारा उद्धृत अर्थालंकारों से भिन्न है। आचार्य मम्मट ने काव्यप्रकाश में तथा अप्पय दीक्षित ने कुवलयानन्द में स्वरूप और सादृश्य नाम से किसी अलंकार का उल्लेख नहीं किया है। किन्तु अग्नि पुराण में इनकी परिभाषा देखकर प्रतीत होता है कि ये क्रमशः स्वभावोक्ति तथा उपमा के ही प्रकारान्तर हैं।

---

१. उक्तिप्रत्युक्तिमद्वाक्यं वाकोवाक्यं द्विधैव तत्।
अग्निपुराण—३४२।३२

२. सैषा सर्वेव वक्रोक्तिरनयार्थो विभाव्यते।
यत्नोऽस्याः कपिना कार्यः कोऽलंकारोऽनयारविना।।
भामहः काव्यालंकार—२।८५

३. अर्थालंकाररहिता विधवैव सरस्वती।
स्वरूपमथ सादृस्यमुत्प्रेक्षातिशयावपि ।। अग्निपुराण—३४४।२

स्वरूप

यदि किसी वस्तु के स्वरूप को बिना परिवर्तन के वैसा ही वर्णित कर दिया जाये तो उसे स्वरूप अलंकार कहते हैं। अग्नि पुराण के अनुसार वस्तुओं के स्वभाव में तद्वत् उल्लेख स्वरूप कहलाता है।[१] विष्णुधर्मोत्तर पुराण में यथावत् वर्णन को स्वभावोक्ति अलंकार कहा गया है। मम्मट के अनुसार वस्तु की स्वगत क्रिया एवं रूप वर्णन को स्वभावोक्ति अलंकार कहा जाता है।[२] अप्पय्य दीक्षित जात्यादिगत स्वभाव वर्णन को स्वभावोक्ति मानते हैं।[३]

स्वरूप अलंकार के दो भेद किए गए हैं—१. निज, जिसमें स्वाभाविक वर्णन होता है। तथा २. आगन्तुक, जिसमें स्वाभाविक वर्णन न होकर कारणवश होता है।

सादृश्य

जहाँ पर साधारण धर्म की मानवता दिखाई जाए, वहाँ पर सादृश्य अलंकार होता है। मम्मट ने उपमा को ही सादृश्य माना है। उनके अनुसार भेदमूलक साधर्म्य होने पर उपमा होती है।[४]

अग्निपुराण में सादृश्य के चार भेद हैं—उपमा, रूपक, सहोक्ति और अर्थान्तरन्यास।[५]

उपमा

जहाँ पर उपमान और उपमेय की समानता में अन्तर होते हुये भी उनके

---

१. स्वभाव एव भावानां स्वरूपमभिधीयते।

अग्निपुराण—३४४।३

२. स्वभावोक्तिस्तु डिम्भादेः स्वक्रियारूपवर्णनम्।

काव्यप्रकाश—१०।१६८

३. स्वभावोक्तिः स्वभावस्य जात्यादिस्थस्य वर्णनम्।

कुवलयानन्द—१६०

४. साधर्म्यमुपमा भेदे।

काव्यप्रकाश—१०।१२५

५. सादृश्यं धर्मसामान्यामुपमा रूपकं तथा।
सहोक्त्यर्थान्तरन्यासाविति स्यात्तु चतुर्विधम्॥

अग्निपुराण—३४४।५

सादृश्य का उल्लेख होता है, वहाँ पर उपमा होती है।[1]

उपमा के दो भेद हैं—प्रथम समासोपमा और द्वितीय असमासोपमा। समासोपमा में पद संश्लिष्ट होते हैं और असमासोपमा में उपमावाचक पद या उपमेय वाचक पद का उल्लेख रहता है। इनके भी पुनः तीन-तीन भेद होते हैं। इस प्रकार उपमा के अठारह भेद होते हैं।

जहाँ साधारण धर्म का कथन होता है अथवा कथन की प्रतीति होती है वहाँ पर धर्म की प्रधानता के कारण धर्मोपमा अलंकार होता है। इसी प्रकार वस्तु की प्रधानता के कारण वस्तूपमा अलंकार होता है।

जहाँ पर उपमेय और उपमान के साधारण धर्मो की तुलना प्रचलित रीति से की जाती है, वहाँ परस्परोपमा अलंकार होता है। जहाँ पर उपमेय के ही पृथक् महत्त्व का प्रतिपादन किया जाता है वहाँ पर नियमोपमा अलकार होता है। जहाँ उपमान और उपमेय से भिन्न किसी वस्तु के धर्म की बहुलता का वर्णन हो उसे समुच्चयोपमा कहते हैं। अन्य आलंकारिकों ने समुच्चय को अलग अलंकार माना है। किन्तु दण्डी ने समुच्चयोपमा को उपमा का अंग माना है।[2] समुच्चयोपमा के अनेक धर्मों का उल्लेख होने के साथ वैचित्रय का भी समावेश अवश्य होना चाहिए।

जहाँ पर उपमान अथवा उपमेय का उत्कर्ष बतलाया जाय, वहाँ व्यक्तिरेकोपमालंकार होता है।[3] इस प्रकार अग्निपुराण में व्यतिरेकोपमा को उपमा का ही एक अंग माना गया है किन्तु विष्णुधर्मोत्तर पुराण में व्यतिरेक को अलग अलंकार स्वीकार किया गया है।[4] अप्पय दीक्षित ने भी व्यतिरेक को अलग स्थान दिया है।[5] मम्मट और जयदेव का भी यही अभिमत है। मम्मट उपमेय

---

१. उपमा नाम सा यस्यामुपमानोमेययोः।

अग्निपुराण—३४४।६

२. काव्यादर्श—परि० २। पृष्ठ ८३

३. यदुच्यतेऽतिरिक्तत्वं व्यतिरेकोपमा तु सा।

अग्निपुराण—३४४।१४

४. गुणानां व्यतिरेकेण व्यतिरेकमुदाहृतम्।

विष्णुधर्मोत्तरपुराण—१४।५

५. व्यतिरेको विशेषश्चेदुपमानोपमेययोः।

कुवलयानन्द—श्लोक ५७

के ही वैशिष्ट्य में व्यतिरेक स्वीकार करते हैं ।[1] पण्डितराज जगन्नाथ के अनुसार भी उपमान की अपेक्षा उपमेय का किसी गुणविशेष के कारण उत्कर्ष होने पर व्यतिरेक होता है ।[2]

अग्निपुराण में श्लेष अलंकार का उल्लेख नहीं है किन्तु विष्णुधर्मोत्तरपुराण में व्यतिरेक के बाद श्लेष अलंकार का कथन है। उसके अनुसार दो या तीन अर्थों के वाचक शब्दों के कारण श्लेष अलंकार कहा जाता है।[3] यह कवियों का प्रिय अलंकार है। मम्मट आदि श्लेष को शब्दालंकार मानते हुए अर्थालंकार भी मानते हैं। उनके अनुसार श्लेष शब्दपरिवृत्यसहिष्णु होता है। अप्पय-दीक्षित इसे अर्थालंकार मानते हैं। राजानक रुय्यक इसे अर्थालंकार मानते हुए कहते हैं कि विशेष्य का भी साम्य होने पर अथवा दोनों का उपादान होने पर श्लेष होता है।[4] जयदेव के अनुसार भी श्लेष अर्थालंकार है, क्योंकि अर्थश्लेष में तो सरलता से पर्याय वाची शब्दों का प्रयोग हो सकता है।[5] कुछ अन्य आलोचक मध्यम मार्ग अपनाते हैं और सभंग श्लेष को शब्दालंकार और अभंग श्लेष को अर्थालंकार मानते हैं।

अग्निपुराण के अनुसार उपमा के शेष भेदों के अन्तर्गत जहाँ अनेक उपमानों के साथ उपमा दी जाती है, वहाँ बहूपमा अलंकार होता है। जहा उपमेय की उपमा विभिन्न उपमानों के साधारण धर्म से की जाती है, वहाँ मालोपमा अलंकार होता है। मालोपमा की स्थिति मम्मट इत्यादि आलंकारिकों ने भी स्वीकार की है। जहाँ उपमेय की तुलना उपमान के विकार से की जाती है, वहाँ विक्रियोपमा अलंकार होता है। जहाँ पर कवि किसी लोकोत्तर बात का आरोप कर उपमान के साथ उसकी तुलना करता है, वहाँ पर अद्भुतोपमा अलंकार होता है। जहाँ कवि उपमेय और उपमान में भ्रान्ति रखते हुए भी दोनों का

---

१. उपमानादन्यस्य व्यतिरेकः स एव सः।

काव्यप्रकाश—१०।१५९

२. उपमानादुपमेयस्य गुणविशेषत्वेनोत्कर्षो व्यतिरेकः।

रसगंगाधर—पृ० ४६७

३. द्वित्र्यर्थवाचकैः शब्दैः श्लेषः इत्यभिधीयते।

विष्णुधर्मोत्तर-पुराण— ३।१४।६

४. विशेषस्यापि साम्ये द्वयोर्वोपादाने श्लेषः।

अलंकार-सर्वस्व—सूत्र ३४

५. अर्थश्लेषोऽर्थमात्रस्य यद्यनेकार्थसंश्रयः।

चन्द्रालोक—५।६५

अभेद स्थापित कर देता है, वहाँ मोहोपमा अलंकार होता है।[1] अलंकार को दण्डी ने भी अपने काव्यादर्श में मोहोपमा नाम से ही अभिहित किया है।[2] किन्तु अन्य अलंकारविदों ने इसे भ्रान्तिमान् नाम से पृथक् अलंकार माना है।

जहाँ पर उपमेय और उपमान के सामान्य धर्मों का वास्तविक रूप का निश्चय न हो सके, वहाँ पर संशयोपमा अलंकार होता है। अग्निपुराण और दण्डी का मत इस विषय में एक ही है। दण्डी ने संशयोपमा अलंकार का उल्लेख किया है।[3] अन्य लक्षणग्रन्थकारों ने संशयोपमा मान कर इसे सन्देह अलंकार ही माना है।

जहाँ पर संशय का निवारण हो जाता है, वहाँ निश्चयोपमा अलंकार होता है। जिसमें उपमेय वाक्यार्थ की उपमान वाक्यार्थ के साथ तुलना की जाती है उसे वाक्यार्थोपमा कहते हैं। जहाँ उपमेय को उपमान बना दिया जाता है वहाँ असाधारणी उपमा होती है। अप्पय दीक्षित एवं मम्मट के मतानुसार असाधारणी उपमा ही प्रतीप अलंकार कहलाती है। अप्पय दीक्षित ने उपमान के उपमेयत्व रूप में कल्पित होने को प्रतीप अलंकार कहा है।[4] जहाँ पर उपमेय को उपमान से अन्य दिखलाया जाय, वहाँ पर अन्योपमा अलंकार होता है। अग्निपुराण के अनुसार यदि उपमा द्वारा उत्तरोत्तर उत्कर्ष का वर्णन हो तो उसे गगनोपमा कहते हैं।[5]

पुनः अठारह भेदों के अतिरिक्त उपमा के प्रशंसा, निन्दा कल्पिता, सदृशी एवं असदृशी कहकर पाँच भेद और भी किए गए हैं। इस प्रकार अग्निपुराण में उपमा के जितने भेद किए गए हैं, उतने अन्यत्र नहीं किये गए हैं।

---

१. प्रतियोगिनमारोप्य तद्भेदेन कीर्तनम्।
उपमेयस्य सा मोहोपमाऽसौ भ्रान्तिमद्वचः॥

अग्निपुराण—३४४।१७

२. इन्दुमप्यनुधावामीत्येषा मोहोपमा स्मृता॥

काव्यादर्श—२।२५ का उत्तरार्द्ध

३. मम दोलायते चित्तमित्तीयो संशयोपमा।

काव्यादर्श—२।२६ का उत्तरार्द्ध

४. प्रतीपमुपमानस्योपमेयत्वकल्पनम् संशयोपमा।

कुवलयानन्द—१२

५. यद्युत्तरोत्तरं याति तदासौ गगनोपमा।

अग्निपुराण—३४४।२० का उत्तरार्द्ध

रूपक

अग्निपुराण के अनुसार जहाँ उपमेय और उपमान के गुणों की समता देखकर उपमान से ही उपमेय का निरूपण कराया जाता है, वहाँ पर रूपक अलंकार होता है। उपमान में उपमेय का तिरोभूत हो जाना रूपक अलंकार का सौन्दर्य है।[1]

अग्निपुराण में उपमा के समान रूपक के भेद-प्रभेद नहीं किये गये हैं। विष्णुधर्मोत्तर पुराण में रूपक का लक्षण कुछ-कुछ उपमा के ही समान दिया गया है। उसके अनुसार उपमेय की उपमान के साथ तुलना होने पर रूपक होता है।[2] आलंकारिकों के अन्तर्गत अप्पय दीक्षित के मत में विषयी के साथ जहाँ विषय का अभेदताद्रूप्य एवं उपरंजन होता तो वहाँ पर रूपक अलंकार होता है।[3] शेष मम्मट जयदेव का भी यही अभिमत है। विश्वनाथ के अनुसार रूपक अलंकार में बिना कुछ छिपाये हुए विषय पर विषयी का अभेदारोप होता है। वह तीन प्रकार का होता है।[4]

सहोक्ति

जिस काव्य में सौन्दर्य उत्पन्न करते हुए दो वाक्यों का एक ही क्रिया से अन्वय हो, उसे सहोक्ति अलंकार कहते हैं। काव्यप्रकाशकार का मत है कि जिस काव्य में उपमेय और उपमान के साधारण धर्मों का सहभाव से कथन या

---

१. उपमानेन यत्तत्त्वमुपमेयस्य रूप्यते।
गुणानां समतां दृष्ट्वा रूपकं नाम तद्विदुः॥
उपमेयतिरोभूतभेदारूपकमेव वा।

अग्निपुराण—३४४।२२ एवं २३ का पूर्वार्द्ध

२. उपमानेन तुल्यत्वमुपमेयस्य रूपकम्।

विष्णुधर्मोत्तरपुराण—१४।४

३. विषय्यभेदताद्रूप्यरंजनं विषयस्य यत्।

कुवलयानन्द—१७

४. रूपकं रूपितारोपाद्विषये निरपह्नवे।
तत्परम्परितं सांगं निरंगमिति च त्रिधा॥

साहित्यदर्पण—१०।२८

उल्लेख हो, वहाँ पर सहोक्ति अलंकार होता है।[1] विष्णुधर्मोत्तरपुराण में सहोक्ति की चर्चा नहीं है किन्तु अन्य लक्षणग्रन्थकारों ने सहोक्ति अलंकार को बहुत महत्त्व दिया है।

अर्थान्तरन्यास

विष्णुधर्मोत्तरपुराण के अनुसार जहाँ पूर्ववाक्य के साथ उत्तरवाक्य का सादृश्य दिखलाया जाय वहाँ पर अर्थान्तरन्यास अलंकार होता है।[2] दण्डी का कथन है कि यदि किसी प्रस्तुत वस्तु का उपन्यास करके उस प्रस्तुत अर्थ के साधन-उत्पादन में समर्थ अप्रस्तुत वस्तु का उपन्यास हो तो अर्थान्तरन्यास अलंकार जानना चाहिए।[3]

उत्प्रेक्षा

अग्निपुराण में उत्प्रेक्षा की परिभाषा अधिक स्पष्ट नहीं है। जब अन्यरूप-वृति को अन्य रूप में प्रस्तुत किया जाता है तो वहाँ उत्प्रेक्षा अलंकार होता है। मम्मटादि आचार्यों ने इसकी स्पष्ट परिभाषा दी है। मम्मट के अनुसार प्रकृत के विषय में जब किसी अप्रकृत की सम्भावना की जाती है तो वहाँ उत्प्रेक्षा अलंकार होता है।[4] उत्प्रेक्षा अलंकार का सौन्दर्य वास्तविक उत्कृष्ट अभिलाषा में निहित है।

अतिशय

अग्निपुराण में अतिशय नामक जिस अलंकार का उल्लेख है उसके लक्षण को देखते हुए उसे अतिशयोक्ति अलंकार की श्रेणी में रखा जा सकता है। अप्पय दीक्षित, मम्मट, जयदेव इत्यादि आलंकारिकों ने भी अतिशयोक्ति की सत्ता को स्वीकार किया है। विष्णुधर्मोत्तर पुराण में अतुल गुण से

---

१. सहोक्तिः सहभावेन कथन तुल्यधर्मिणाम्।

काव्यप्रकाश—१०।१३७

२. ज्ञेयः सोऽर्थान्तरन्यासः पूर्वार्थानुगतो यदि।

विष्णुधर्मोत्तर पुराण—३।१४८

३. ज्ञेयः सोऽर्थान्तरन्यासो प्रस्तुत्य किंचन।
तत्साधनसमर्थस्य न्यासो योऽन्यस्य वस्तुतः॥

काव्यादर्श—२।१६९

४. सम्भावनमथोत्प्रेक्षा प्रकृतस्य समेन यत्।

काव्यप्रकाश १०।१३७

युक्त पदार्थ के वर्णन में अतिशयोक्ति नामक अलंकार माना गया है। अग्नि-पुराण में उक्त अलंकार के दो भेद किए गए हैं—प्रथम सम्भव और द्वितीय असम्भव। परवर्ती समालोचकों ने असम्भव को अलग अलंकार माना जिनमें जयदेव प्रमुख हैं। उनके अनुसार अर्थनिष्पत्ति के असम्भावनावर्णन में असंभव अलंकार होता है।[१]

विशेषोक्ति

अग्निपुराण के अनुसार जहाँ गुण, जाति, क्रिया आदि में परस्पर विरोध होता है, वहाँ पर विशेषोक्ति अलंकार होता है।[२] विष्णुधर्मोत्तर पुराण के अनुसार विशेष प्रापण के कारण विशेषोक्ति अलंकार होता है।[३]

विभावना

विशेषोक्ति का सर्वथा विपरीत अर्थ वाला विभावना-अलंकार होता है। अग्निपुराण के मत में जहां पर प्रसिद्ध कारण का व्यावर्तन करके उसके स्थान पर किसी कारणान्तर की स्थापना की जाय तथा स्वाभाविकता प्रदान की जाय वहां विभावना—अलंकार होता है।[४]

विष्णुधर्मोत्तर पुराण के अनुसार बिना हेतु के कार्य की उपस्थित में विभावना अलंकार होता है।[५] यह परिभाषा अधिक समीचीन है। अधिकांशतः समालोचकों एवं परवर्ती लक्षणग्रन्थकारों ने इसे तद्वत ही स्वीकार कर लिया है।

---

१. असम्भवोऽर्थनिष्पत्तेरसम्भाव्यत्ववर्णनम्।

चन्द्रालोक—५।७६ एवं कुवलयानन्शद—८४

२. गुणजातिक्रियादीनां यत्र वैकल्यदर्शनम्।
विशेषदर्शनायैव सा विशेषोक्तिरुच्यते॥

अग्निपुराण—३४४।२७ का उत्तरार्द्ध एवं २७ का पूर्वार्द्ध

३. विशेषप्रापणादुक्ता विशेषोक्तिस्तथा नृप।

विष्णुधर्मोत्तरपुराण—३।१४।१२

४. प्रसिद्धहेतुव्यावृत्या यत्किंचित्कारणान्तरम्।
यत्र स्वाभाविकत्वं वा विभाव्यं सा विभावना॥

अग्निपुराण—३४४/१७ का उत्तरार्द्ध एवं २८ का पूर्वार्द्ध

५. हेतुं बिना विततता प्राप्ता सा तु विभावना।

विष्णुधर्मोत्तरपुराण—३।१४।१०

उपन्यास

विष्णुधर्मोत्तरपुराण में उपन्यास नामक अलंकार की चर्चा तो है किन्तु लक्षण स्पष्ट नहीं हैं। इसके अन्तर्गत यह उल्लेख है कि अन्य के उपन्यास द्वारा जहाँ अन्य परिकीर्तित होता है वहां उपन्यास अलंकार होता है।[1] अग्निपुराण में इस नाम से किसी अलंकार का उल्लेख नहीं है।

यथासंख्य

किसी भी वर्णन या उल्लिखित पदार्थ का क्रम से निर्देश करने को काव्य-शास्त्रियों ने यथासंख्य अलंकार कहा है। इसे क्रमालंकार भी कहते हैं।

विरोध

जब किसी में उसका विरोधी गुण प्रदर्शित किया जाय, वहां पर विरोध अलंकार होता है। अग्निपुराण के अनुसार जहाँ पर परस्पर विरोधी वस्तुओं का विरोधी रूप दिखलाकर फिर त्रुटिपूर्वक उनका संगत रूप दिखलाया जाता है। वहाँ विरोध अलंकार होता है।[2] विष्णुधर्मोत्तर पुराण में भी यह उल्लेख है कि विरोध प्रदर्शित करने वाली क्रिया का जब युक्तिसंगत समन्वय होता है, तब विरोध अलंकार होता है।[3] मम्मट ने काव्यप्रकाश में विरोध अलंकार की सत्ता स्वीकार की है। उनके अनुसार जब निन्दा के बहाने स्तुति और स्तुति के बहाने निन्दा की जाती है तब भी विरोध अलंकार होता है। किन्तु परवर्ती अलंकारिक इसे विरोध न मान कर व्याजस्तुति के नाम से अभिहित करते हैं। उदाहरणार्थ अप्पयदीक्षित ने व्याजस्तुति की परिभाषा में यह स्पष्ट किया है कि निन्दा द्वारा स्तुति तथा स्तुति द्वारा निन्दा करने पर व्याजस्तुति अलंकार होता है।[4]

---

१. उपन्यासेन वाऽन्यस्य यदन्यः परिकीर्त्यते।
उपन्यासमलंकारं तं नरेन्द्र प्रचक्षते॥

विष्णुधर्मोत्तरपुराण—३।१४।९

२. संगतीकरणं युक्त्या यदसंगच्छमानयोः।
विरोधपूर्वकत्वेन तद् विरोध इति स्मृतम्॥

अग्निपुराण—३४४।२८ का उत्तरार्द्ध एवं २९ का पूर्वार्द्ध

३. या क्रिया चान्यफलदा, विशेषस्तु स इष्यते।

विष्णुधर्मोत्तरपुराण—१४।१३ का पूर्वार्द्ध

४. उक्तिर्व्याजस्तुतिर्निन्दास्तुतिभ्यां स्तुतिनिन्दयोः।

कुवलयानन्द—७०

उन्होंने विरोध को विरोधाभास के नाम से अभिहित किया है और जयदेव ने विरोध और विरोधाभास को अलग-अलग अलंकारों के रूप में वर्णित किया है।

निदर्शना

अग्निपुराण में निदर्शना नामक अलंकार का कोई उल्लेख नहीं है। वस्तुतः यह बहुत सरस और लोकप्रिय अलंकार है। विष्णुधर्मोत्तर पुराण में इसका उल्लेख पर्याप्त है। उनके अनुसार रूप्य भाग वस्तु द्वारा प्रतीति या ज्ञान होना निदर्शना है।[1]

पण्डितराज जगन्नाथ, मम्मट, अप्पय दीक्षित, जयदेव, वामन, दण्डी इत्यादि सभी आचार्य निदर्शना अलंकार की स्थिति स्वीकार करते हैं। विश्वनाथ ने इसका लक्षण देते हुए लिखा है कि जहाँ पर सम्भव अथवा असम्भव वस्तु सम्बन्ध हो, वहाँ निदर्शना नामक अलंकार समझना चाहिए।[2]

अनन्वय

विष्णुधर्मोत्तर पुराण के अनुसार जहाँ यथा, वा इत्यादि वाचकों के बिना उपमा का प्रयोग किया जाता है, वहाँ अनन्वय अलंकार होता है। अग्निपुराण में इस अलंकार का उल्लेख नहीं है।

जयदेव के अनुसार "चन्द्रमा चन्द्रमा के समान है" इत्यादि में जहाँ एक का ही एक साथ उपमानोपमेयत्व दृष्टिगोचर हो, वहाँ अनन्वय अलंकार होता है।[3] यह आलंकारिकों में अधिक प्रसिद्ध न हो सका।

शब्दार्थालंकार

अग्निपुराण में शब्दालंकार और अर्थालंकार का सम्मिलित रूप भी प्रदर्शित किया गया है, जिसे शब्दार्थालंकार कहते हैं। विष्णुधर्मोत्तर पुराण में शब्दार्था-

---

१. वस्तुना रूप्यभागेन दर्शनं तन्निदर्शनम्।

विष्णुधर्मोत्तर पुराण—३।१४।१४

२. सम्भवन् वस्तुसम्बन्धो सम्भवन् वाऽपि कुत्रचित्।
यत्र बिम्बानुबिम्बत्वं, बोधयेत्सा निदर्शना॥

साहित्यदर्पण—१०/५१

३. उपमानोपमेयत्वे यत्रैकस्यैव जागृतः।
इन्दुरिन्दुरिवेत्यादौ भवेदेवमनन्वयः॥

चन्द्रालोक—५।१९

लोकार के विषय में कुछ नहीं लिखा गया है किन्तु अग्निपुराण में पर्याप्त विस्तार है। अग्निपुराणानुसार जिस प्रकार स्त्रियों के वक्षःस्थल का हार वक्ष सौन्दर्य के साथ-साथ ग्रीवा सौन्दर्य को भी बढ़ाता है, उसी प्रकार उभयालंकार शब्द और अर्थ दोनों को अलंकृत करते हैं।[1]

शब्दालंकार के छः भेद स्वीकार किये गये हैं—प्रशस्ति, कान्ति, औचित्य, संक्षेप, यावदर्थता और अभिव्यक्ति।

प्रशस्ति

दूसरों के हृदय को द्रवित करने वाले कर्म को प्रशस्ति कहते हैं। प्रशस्ति कथन की शैली दो प्रकार की होती है—प्रथम प्रेमोक्ति और द्वितीय स्तुति। प्रिय के सम्बन्ध में सामान्य कथन को प्रेमोक्ति और गुणकीर्तन को स्तुति कहते हैं। जयदेव वामन रुय्यक ने इसे प्रेय अलंकार माना है।

संक्षेप

संक्षेप अलंकार के विषय में लिखा है कि जहाँ अल्प शब्दों से अधिक अर्थ की प्रतीति होती है। वहाँ पर संक्षेप अलंकार होता है।[2]

कान्ति

कान्ति नामक अलंकार की उपस्थिति शब्द और अर्थ के सुन्दर समन्वय में है। अग्निपुराण में लिखा है कि जिस वाक्य में शब्द और अर्थ की संगति होती है, उसे कान्ति अलंकार कहते हैं।[3] किन्तु आचार्य वामन कान्ति को काव्य-गुण मानते हैं और इसका अर्थ औज्ज्वल्य बतलाते हैं।[4]

---

१. शब्दार्थयोरलंकारो द्वावलंकुरुते समम्।
एकत्र निहितो हारः स्तनं ग्रीवामिव स्त्रियाः॥
अग्निपुराण—३४५।१

२. संक्षेपो वाचकैरल्पैर्बहोरर्थस्य संग्रहः।
अग्निपुराण—३४५।४ का पूर्वार्द्ध

३. कान्तिः सर्वमतोऽच्यवाच्यवाचकसंगतिः।
अग्निपुराण—३४५।४ का उत्तरार्द्ध

४. औज्ज्वल्यं कान्तिः।
काव्यालंकार सूत्र—३।१

औचित्य

जहाँ पर विषयानुकूल रीति, वृत्ति और रस का समावेश दिखलाया जाता है, वहाँ पर औचित्य अलंकार होता है। इसके दो भेद हैं—ऊर्जस्वी और मृदु सन्दर्भ। अप्पय दीक्षित ने उर्जस्वी अलंकार को स्थान दिया है किन्तु उसका कोई लक्षण नहीं दिया है। केवल उदाहरण दिया है। जहां पर रसाभास अथवा भावाभास अंग हो वहाँ ऊर्जस्वी अलंकार होता है। दण्डी के अनुसार सगर्व कथनों में ऊर्जस्वी अलंकार होता है।[1]

यावदर्थता

जिस वाक्य में शब्द और वर्ण्य वस्तु, दोनों को समान रूप में प्रस्तुत किया जाय अर्थात् उनमें से कोई न्यून हो और न अधिक, वहाँ यावदर्थता अलंकार होता है।

समाधि

जहाँ पर लोक-मर्यादा के आग्रह के कारण एक वस्तु का धर्म दूसरी वस्तु में सम्यग्गुर्ग रीति से वर्णित किया जाय, वहाँ समाधि अलंकार होता है। काव्य-प्रकाश, कुवलयानन्द एवं चन्द्रालोक आदि के अन्तर्गत यह अर्थालंकार के रूप में वर्णित है। अप्पय दीक्षित के अनुसार कारणान्तर का सान्निध्य होने से जहाँ कार्य सुगम हो जाय, वहाँ समाधि अलंकार होता है।[2]

आक्षेप

जहाँ पर किसी वस्तु का कथन करके बाद में उसका निषेध किया जाय, वहाँ आक्षेप अलंकार होता है। मम्मट, अप्पय दीक्षित, जयदेव इत्यादि ने आक्षेप को भी अर्थालंकार माना है। मम्मट के अनुसार अभीष्ट वस्तु में कोई विशेषता बतलाने की इच्छा से जहाँ अपनी ही कही हुयी बात का निराकरण किया जाता है, वहाँ आक्षेप अलंकार होता है।[3]

---

१. पुंसा केनापि तज्ज्ञयमूर्जस्वीत्येवमादिकम्।

काव्यादर्श—२/श्लोक १६४ का उत्तरार्द्ध

२. समाधिः कार्यसौकर्यं करणान्तरसन्निधेः। कुवलयानन्द—५७

३. निषेधो वक्तुमिष्टस्य यो विशेषाभिधित्सया।
वक्ष्यमाणोक्तविषयः स आक्षेपो द्विधा मतः॥

काव्यप्रकाश—१०।१६१

समासोक्ति

अग्निपुराण के अनुसार जहाँ विशेषणों की समानता के बल पर कोई अन्य अर्थ किसी अन्य पर घटित होने लगे, वहाँ समासोक्ति अलंकार होता है। जयदेव के मत में भी अप्रस्तुत की अभिव्यक्ति या परिस्फूर्ति होने पर समासोक्ति अलंकार होता है।[१]

अपह्नुति

अपह्नुति अलंकार को समालोचकों ने अर्थालंकार माना है। यह लोकप्रिय अलंकार है और इसके कई भेद प्रभेद किए गए हैं। अग्निपुराण के अनुसार जहाँ किसी सत्य अर्थ को छिपाकर सौन्दर्य पैदा करते हुए अन्य असत्य तथ्य को उद्घाटित किया जाता है, वहाँ अपह्नुति अलंकार होता है।[२]

पर्यायोक्ति

अग्निपुराण में जिसे पर्यायोक्ति नाम से अभिहित किया गया है। उनके अनुसार अप्रस्तुत कार्यादि से प्रस्तुत के उक्त होने पर पर्यायोक्ति अलंकार होता है।[३] मम्मट और रुय्यक ने भी उसे पर्यायोक्ति अलंकार कहा है। रुय्यक के अनुसार विशेष भंगिमापूर्वक गम्य का अभियान होने पर पर्यायोक्ति अलंकार होता है।[४]

अग्निपुराण में वर्णित शब्दार्थालंकार इस प्रकार अन्य समालोचकों की दृष्टि में अर्थालंकार के अन्तर्गत ही आते हैं। किन्तु अग्निपुराण के अनुसार उनका शब्द और अर्थसौन्दर्य दोनों उत्कृष्ट होने से वे शब्दार्थअलंकार की ही कोटि में परिगणनीय होते हैं।[५]

---

१. समासोक्तिः परिस्फूर्तिः प्रस्तुतस्य चेत्। चन्द्रालोक—५।६२

२. अपह्नुतिरपह्नुत्य किंचिदन्यार्थसूचनम्।
अग्निपुराण—३४५।१७

३. कार्याद्यैः प्रस्तुतैरुक्ते पर्यायोक्ति प्रचक्षते। चन्द्रालोक—५।७०

४. गम्यस्य भंग्यन्तरेणाभिधानं पर्यायोक्तम्।
अलंकारसर्वस्व—पृ० १४९

५. द्रष्टव्य, पृ०—अग्निपुराण—३४५/१

रस-निरूपण

सृष्टि के आरम्भ से रस का महत्त्वपूर्ण स्थान है। रस शब्द का प्रयोग अनेक अर्थों में किया गया है। वैशेषिक दर्शन में रस वह गुण है, जिसका ज्ञान हमें स्वाद प्राप्त करने वाली इन्द्रियों के माध्यम से होता है। इस अर्थ में रस छः प्रकार के हैं। आयुर्वेदशास्त्र में रस वह श्वेत द्रव है, जो पाचन क्रिया की सहायता से भोजन से उत्पन्न होता है। यह रस मुख्य रूप से हृदय में स्थित रहता है। सामान्य रूप से फूल और फलों से निकले पदार्थ को भी रस कहते हैं। प्रवृत्ति, रुचि, इच्छा, खनिज अथवा धातु लवण तथा पारे को भी रस कहते हैं। रस जल का भी पर्यायवाची है, जिससे युक्त होने के कारण पृथ्वी भी रसा कहलाती है।

काव्यशास्त्र के प्रसंग में व्युत्पत्ति के आधार पर रस शब्द का अभिप्राय उस पदार्थ से है, जो आस्वाद्य एवं रसनीय हो –'रस्यते आस्वाद्यते इति रसः।' अभिव्यंजनीय वस्तु को रस कहते हैं। आयुर्वेद की भांति काव्यरस भी हृदय में विद्यमान रहता है। इस प्रकार अन्नरस, पदार्थरस से ब्रह्मरस तक की अपनी यात्रा वैदिक साहित्य की परिधि में पूरी कर लेता है।[1]

रस के अनेक अर्थों के साथ वैदिक सोमरस को नहीं छोड़ा जा सकता, जिसका ग्रहण देवता शक्ति और आनन्द के लिए करते थे। इस प्रकार रस क्रमशः आस्वाद्य होकर आनन्द की अभिव्यंजना करने लगा।

काव्य में रस के सारभूत होने से इसे काव्य की आत्मा कहा गया है। रस को हम आनन्द का पर्यायवाची मान सकते हैं क्योंकि रस को ब्रह्म का स्वरूप माना गया है। यही रस का दार्शनिक और आध्यात्मिक अर्थ है।[2]

---

१. रसो गन्धरसे स्वादे, तिक्तादौ विषरागयोः।
शृंगारादौ द्रवे वीर्ये देहधात्वम्बु पारदे॥

विश्वकोष

२. रसो वै सः। रसं ह्येवायं लब्ध्वानन्दी भवति।

तैत्तिरीय उपनिषद्—२.७

अग्निपुराण के अनुसार परमब्रह्म परमेश्वर चैतन्यस्वरूप और ज्योतिर्मय अविनाशी अक्षर ब्रह्म के आनन्द की अभिव्यक्ति चैतन्य चमत्कार अथवा रस के नाम से जानी जा सकती है।[1]

आनन्द के प्रथम विकार को अहंकार कहते हैं। अहंकार से अभिमान का प्रादुर्भाव हुआ एवं उसी अभिमान में तीन लोक अर्थात् पृथ्वी-लोक, स्वर्गलोक और पाताल लोक व्याप्त हैं। इस आनन्द की प्राप्ति के लिए काव्य का उद्भव हुआ है। आचार्य मम्मट ने भी अपने सुप्रसिद्ध ग्रन्थ काव्यप्रकाश में कविता को प्रकृति के नियमों से युक्त ह्लादैकमयी एवं नवरसरुचिरा कहा है।[2]

रस का महत्त्व

रस का महत्त्व प्रतिपादित करते हुए अग्निपुराण में लिखा है कि जिस प्रकार बिना दान के लक्ष्मी सुशोभित नहीं होती है, उसी प्रकार वाग्देवी भी बिना रसों के सुशोभित नहीं होती है।[3]

आलोचकों ने रस को काव्य की आत्मा स्वीकार करते हुए रस को काव्य में सर्वोपरि स्थान दिया है। भरत मुनि ने नाट्य शास्त्र में रस का महत्व प्रतिपादित करते हुए लिखा है कि जैसे बीज से वृक्ष और फिर उसी से फल और फूल होते हैं, उसी प्रकार मूल तो रस ही है, शेष सभी भाव उसी में अवस्थित रहते हैं।[4] विष्णुधर्मोत्तर पुराण में नवरस की संख्या गिनाते हुए उनका महत्व प्रतिपादित किया गया है और कहा गया है कि कवियों को सभी रसों का

---

१. आनन्द-सहजस्तस्य व्यंजते स कदाचन।
व्यक्ति सा तस्य चैतन्यचमत्काररसाह्वया॥

अग्निपुराण—३३६।२

२. नियतिकृत-नियमरहिता, ह्लादैकमयीमनन्यपरतन्त्राम्।
नवरसरुचिरां निर्मितिमादधती भारती कवेर्जयति॥

काव्यप्रकाश—१ १

३. लक्ष्मीरिव बिनात्यागान्न वाणी भाति नीरसा।

अग्निपुराण ३३९।१०

४. यथा बीजाद् भवेद् वृक्षो वृक्षात् पुष्पं फलं यथा।
तथा मूलरसः सर्वे तेभ्यो भावा व्यवस्थिताः॥

नाट्यशास्त्र—६।३९

प्रयत्नपूर्वक वर्णन करना चाहिए, क्योंकि रस काव्य का सबसे महत्वपूर्ण अंग है।[1]

ध्वनिवादी आचार्य आनन्दवर्धन ने ध्वनिवाद की स्थापना में रस को ही सर्वोपरि स्थान दिया है और उसे ध्वनि के साथ समन्वित किया है।[2]

वास्तव में शोक और श्लोक के समीकरण का श्रेय कालिदास को है। भरत मुनि अभिनय, नृत्य तथा संगीत को रस की अभिव्यक्ति करने का प्रधान साधन मानते हैं। भरत मुनि ने जिन उपविषयों की व्याख्या की है, उन सबका प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष रूप से सम्बन्ध रस के साथ है। नाटककार अभिनेता एवं दर्शक के दृष्टिकोण से नाट्यविधायक तत्वों में रस सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण है। नाटककार जब तक उस रस विशेष पर अपना ध्यान केन्द्रित नहीं कर लेता है, तब तक प्रभावशाली रूप में वह अनुभाव, विभाव और व्यभिचारी भावों को प्रकट नहीं कर सकता। दर्शक रंगशाला में केवल रस का आस्वाद करने जाते हैं। दर्शक के अन्तःकरण में रसविधायक तत्व विभावादि स्वतन्त्र एवं परस्पर विलगरूप से न आकर उस स्थायी भाव में निमंजित होकर आते हैं, जिन्हें सहचारी व्यभिचारी भाव अत्यन्त तीव्र कर देते हैं। इस सन्दर्भ में मम्मट की परिभाषा द्रष्टव्य है, जिसमें उन्होंने विभावादि से व्यक्त स्थायी भाव को रस कहा गया है।[3]

पण्डितराज जगन्नाथ ने पहले से ही वासनारूप से स्थित भावों को रस

---

१. बन्धो रसानुगः कार्यः सर्वेष्वेतेषु यत्नतः।
सर्वप्रधानमेवैतत् सर्वनाट्ये नराधिप ॥

विष्णुधर्मोत्तर पुराण—१७।६२

२. काव्यस्यात्मा स एवार्थस्तथा चादिकवेः पुरा।
क्रौंचद्वन्द्ववियोगोत्थः शोकः श्लोकत्वमागतः ॥

ध्वन्यालोक—१।५

३. कारणान्यथ कार्याणि सहकारीणि यानि च।
रत्यादेः स्थायिनो लोके तानि चेन्नाट्यकाव्ययोः ॥
विभावानुभावाश्च कथ्यन्ते व्यभिचारिणः।
व्यक्तस्ते विभावाद्यैः स्थायी भावो रसः स्मृतः ॥

काव्यप्रकाश—४।१३

कहा गया है।[1] डा० शंकरदेव अवतरे ने अपने प्रसिद्ध ग्रन्थ रसप्रक्रिया में लिखा है कि स्थायी और संचारी दोनों ही भाव सामाजिक के हृदय में निवास करनेवाले संस्कार रूढ भाव हैं और दोनों की अनुभूति सामाजिक को इनके उद्बुद्ध होने पर होती है। अब प्रश्न उठता है कि इन्हें उद्बुद्ध और व्यंजित कौन करता है। उत्तर है कि बाहर के विभाव और अनुभाव से ये व्यंजित होते हैं।[2]

आचार्य विश्वनाथ ने रस के स्वरूप निर्धारण में भट्टनायक एवं अभिनवगुप्त दोनों की ही मान्यता को स्वीकार किया है। उन्होंने रस को ब्रह्मास्वाद सहोदर बतलाते हुए विभाव, अनुभाव और संचारी भाव में व्यक्त सहृदय के स्थायी भाव को रस माना है।[3]

काव्यमीमांसाकार राजशेखर की दृष्टि सर्वथा अनाविल है। काव्यपुत्र से सरस्वती कहती हैं कि शब्द और अर्थ तेरा शरीर और रस तेरी आत्मा है।[4] रस चार प्रकार के तत्त्वों का मिश्रित रूप है। अतः इन चारों तत्त्वों में सामंजस्य अत्यावश्यक है। ये निम्न लिखित हैं—

१. विभाव—आलम्बन एवं उद्दीपन।

२—अनुभाव अथवा सात्त्विक भाव।

---

१. स्वप्रकाशतया वास्तवेन निजस्वरूपानन्देन सहगोचरीक्रियमाणः प्राग्विनिविष्टवासनारूपो रसः।

रसगंगाधर प्रथम आनन, पृ० ८०

२. रसप्रक्रिया—पृ० २१।

३. विभावानुभावेन व्यक्तः संचारिणा तथा।
रसतामेति रत्यादिः स्थायीभावो सचेतसाम्॥
सत्त्वोद्रेकादखण्डस्व-प्रकाशानन्दचिन्मयः।
वेद्यान्तरस्पर्शशून्यो ब्रह्मास्वादसहोदरः॥
लोकोत्तरचमत्कारप्राणः कैश्चित् प्रमातृभिः।
स्वकारवदभिन्नत्वेनायमास्वाद्यते रसः॥

साहित्यदर्पण—३।१ से ३ श्लोक

४. अहोश्लाघनीयोऽसि। शब्दार्थौ ते शरीरं—उक्तिवण ते वचो रस आत्मा रोमाणि छन्दांसि प्रश्नोत्तरप्रवाहादिकं च वाक्केलिः। अनुप्रासोपमादयश्च त्वामालंकुर्वन्ति—

काव्यमीमांसा—पृ० १५ एवं १६

३—संचारी अथवा व्यभिचारी भाव।

४—स्थायी भाव।

भरत मुनि रस के दार्शनिक स्वरूप से अधिक प्रभावित नहीं हुये। उनकी दृष्टि में रस विषय-रूप हैं, जिसके कारण दर्शक रस का अनुभव करते हैं। उनके अनुसार विभावादि और रसादि अंग-अंगी सम्बन्ध होता है। इसे स्पष्ट करने के लिए भरत मुनि ने षाडव रस का दृष्टान्त दिया है। जैसे मसाले, औषधि, द्रव्य तथा चावल इत्यादि को मिलाकर कुछ बनाया जाये तो एक विशिष्ट स्वाद उत्पन्न होता है, जो अन्य सब स्वादों से भिन्न रहता है, उसी प्रकार प्रतिभावान् कवि जब समुचित विभाव, अनुभाव, व्यभिचारी भाव एवं स्थायी भाव को सामंजस्य पूर्ण विधि से प्रस्तुत करता है, तब एक अनिवर्चनीय और अलौकिक रस की उत्पत्ति होती है।[1] विभावादि रस विधायक तत्त्व प्रकृति से उत्पन्न नहीं होते। वे उस कला की सृष्टि हैं, जो प्रकृति का अनुसरण नहीं करती, अपितु कवि कल्पित लोक का प्रदर्शन विशद रूप में करती है।[2]

कृत्रिम रत्न के समान विषय रूपरस अनुकरण की सृष्टि नहीं है, क्योंकि जिस प्रकार कृत्रिम रत्न में असली रत्न की छाया एवं बाह्य रूप की समानता होती है। मूल तत्त्व का उसमें अभाव रहता है। उसी प्रकार यह स्पष्ट हो जाता है कि विषय रूपरस उस स्थायीभाव से भिन्न है, जो उसके विधायक तत्त्वों में से एक हैं। यह विषय रूपरस उस अनुभव रूपरस से भी भिन्न है, जो उसकी अनुभवात्मक प्रतीति के अनन्तर उत्पन्न होता है।

रस का वास भरत मुनि के अनुसार भाव परिस्थिति में वर्तमान प्रधान व्यक्ति में ही होता है। इस प्रकार भरत मुनि के लिए रस विषयक समस्या शुद्ध रूप से व्यावहारिक है और उसके समाधान का आधार मानसिक जीवन के तत्त्वों एवं नाट्य-रचना विधि का सर्वाङ्गीण विश्लेषण है। डा० कान्ति चन्द्र पाण्डेय ने अपने ग्रन्थ "स्वतन्त्र कला शास्त्र" में निष्कर्ष रूप में लिखा है कि रस के विषय में यही प्राचीन मत है, जिसको दण्डी अपने काव्यादर्श में

---

१. विभावानुभावव्यभिचारिवृत्तः स्थायीभावो रसनाम लभते।

नाट्यशास्त्र—८।७९

२. कवेरन्तर्गतं भावं भावयन् भाव उच्यते।
त्रैलोक्यस्यास्य सर्वस्व नाट्यं भावानुकीर्तनम्॥
नाट्यशास्त्र—अभिनवभारती टीका

लिखा और बिना किसी संशोधन के भट्टलोल्लट ने इसी सिद्धान्त को स्वीकार कर लिया।[1]

रसों की संख्या

अग्निपुराण में श्रृङ्गारादि रस-निरूपण नामक अध्याय में तत्पश्चात् अभिनयादि निरूपण नामक अध्याय के अन्तर्गत रस का सम्यक् विवेचन किया गया है तथा नवरस की स्थापना की गयी है। इसके पहले भरत मुनि ने आठ रस स्वीकार किए थे एवं शान्त रस को नाट्य रसों की गणना में स्थान नहीं दिया था।[2]

भरत के पश्चात् दण्डी ने काव्यादर्श में केवल आठ रसों का उल्लेख किया है। आगे चलकर उद्‌भट ने शान्त रस का उल्लेख किया है। पाठभेद से नाट्यशास्त्र में नवरस का वर्णन मिलता है। धीरे-धीरे रसविस्तार की प्रवृत्ति बढ़ती गई। डा० राघवन् ने अपने ग्रन्थ में रस के अनेक उपभेदों का वर्णन किया है। पण्डितराज जगन्नाथ ने रस-विस्तार की प्रवृत्ति का खण्डन किया एवं नवरस की स्थापना की। अग्निपुराण में नवरसों का सम्यक् वर्णन है।[3] डा० के० ना० वाटवे ने अपने रसविमर्श नामक ग्रन्थ में नौ रसों की स्थापना की है। श्री हरिहर ने भर्तृहरि निर्वेद नामक शान्त प्रधान नाटक लिखकर शान्तरस की स्थापना की है।[4] विष्णुधर्मोत्तर पुराण में नौ नाट्यरसों की मान्यता

---

१. स्वतन्त्र-कलाशास्त्र—चौ० सं० सी० १९६७।

२ श्रृङ्गार-हास्य-करुण-रौद्रवीरभयानकाः।
बीभत्साद्भुतौ संज्ञौ चेत्यष्टौ नाट्ये रसा स्मृता॥
नाट्यशास्त्र—६/१७

३. श्रृंगारहास्यकरुणरौद्रवीर-भयानकाः।
बीभत्साद्भुतशान्ताख्याः स्वभावाश्चतुरो रसाः॥
अग्निपुराण—३३९/८

४. ब्रह्माद्वैत-सुखात्मकः परम् विश्रान्तो हि शान्तो रसः।
भर्तृहरि निर्वेद—पृष्ठ ४१

स्वीकार की गई है ।[1]

अग्निपुराण में श्रृंगार रस को सबसे महत्त्पूर्ण स्थान दिया गया है और शेष रसों को उनके उपभेद बतलाया है। रति अथवा श्रृंगार से ही हास की उत्पत्ति होती है, रौद्र से करुण रस, वीर से अद्भुत रस और वीभत्स से भयानक रस की उत्पत्ति होती है। प्रत्येक रस का अपना-अपना स्थायी भाव होता है। ये स्थयी भाव परब्रह्म के सत्त्वादि गुणों के प्रसार से उत्पन्न होते हैं।

विश्वनाथ ने वात्सल्य नामक दशम रस का उल्लेख किया है और उसका स्थायीभाव अपत्य-सम्बन्धी स्नेह बतलाया ।[2] इसे बाद के संस्कृत कवियों ने और हिन्दी के रीतिकालीन कवियों ने मान लिया। यह मुख्य रस नहीं है।

स्थायी भाव

रस और स्थायी भाव

रस	स्थायीभाव
श्रृंगार	रति
हास्य	हास
करुण	शोक
रौद्र	क्रोध
वीर	उत्साह
भयानक	भय
बीभत्स	घृणा या जुगुप्सा
अद्भुत	विस्मय
शान्त	निर्वेद

१. श्रृंगारहास्यकरुणा रौद्रवीरभयानकाः ।
बीभत्साद्भुत शान्ताख्या नव नाट्ये रसाः स्मृता ॥
विष्णुधर्मोत्तर पुराण—३०/१

२. स्फुटं चमत्कारितया वत्सलं च रसं विदुः ।
स्थायी वत्सलता-स्नेह-पुत्राद्यलम्बनं मतम् ॥
उद्दीपनानि तच्चेष्टा विद्याशौर्यंदयादयः ।
आलिङ्गनाङ्ग-संस्पर्श-शिरचुम्बनमीक्षणम् ॥
साहित्यदर्पण—२/२५१ एवं २५२

हैं। इन स्थायी भावों का अपना अलग महत्त्व है। सुख के मनोकूल अनुभव का नाम रति है। हर्षादि से जो मन का विकास होता है, उसे हास कहते हैं। प्रिय वस्तु के विनाशादि से होने वाली विकलता का नाम शोक है। किसी लोकातिशायी वस्तु के देखने से उत्पन्न चित-विस्तार को विस्मय कहा गया है। लोक में भी प्रायः किसी अलौकिक वस्तु के दर्शन हो जाते हैं और मनुष्य की आँख आश्चर्य से फैल जाती हैं। किसी प्रतिकूल परिस्थिति में समुत्पन्न तीक्ष्णता का नाम क्रोध है। हृदय में उत्पन्न पौरुष का नाम उत्साह है। किसी भयंकर चित्र को अथवा दृश्य को देखने से चित्त की जो व्याकुलता होती है, उसे भय कहते हैं। अशोभन वस्तुओं के घृणास्पद भाव का नाम जुगुप्सा है।

सात्विक भाव

स्तम्भ-स्वेद-पुलक-स्वरभेद-वेपथु-वैवर्ण्य-अश्रु-प्रलय सात्त्विक भाव हैं।[1]

भय या रीति की अधिकता के कारण निष्चेष्ट होने का नाम स्तम्भ है। इसी प्रकार श्रम, प्रेम, या भय के आधिक्य के कारण अन्तर्मन्थन के द्वारा शरीर पर आने वाली आर्द्रता को स्वेद कहते हैं। हर्ष, भय इत्यादि से होने वाले शारीरिक उच्छ्वास को पुलक कहते हैं एवं उससे उत्पन्न होने वाले कण्ठावरोध को स्वरभेद कहते हैं। हृदय में विक्षोभ स्वरूप होने वाले स्तम्भ को वेपथु कहा जाता है। विवाद एवं भय के कारण होने वाली रूप या छवि की म्लानता को वैवर्ण्य कहते हैं। दुःख एवं आनन्दादि से नेत्रों में उत्पन्न एवं दृश्यमान जल को अश्रु कहा जाता है। अनशनादि के कारण इन्द्रियों की विकलता को प्रलय कहते हैं।

संचारी भाव

संचारी भाव ३३ होते हैं। स्थिर न रहने के कारण इन्हें व्यभिचारी भाव से सम्बोधित किया जाता है। इनका परिचय अधोविध है—

वैराग्य के कारण मन में उत्पन्न खेद को निर्वेद कहते हैं। मानसिक पीडादि से प्रसूत अवसाद जब व्यक्त होता है तो उसे ग्लानि कहते हैं। श्रम, दुःख और अनुत्साह के कारण हर्ष-क्षय होना ग्लानि है। अनिष्ट आगमन की

---

१. अष्टौ स्तम्भादयः सत्त्वाद्रजसस्तमसः परम्।

अग्निपुराण—३३९/७

कल्पना को आशंका कहते हैं। विवर्णता कम्प, स्वरभंग तथा इधर-उधर दृष्टिपात करना आदि इसके लक्षण हैं औद्धत्य के कारण दूसरे के उत्कर्ष को देखकर उत्पन्न मात्सर्य असूया है। इसमें दोष कथन भृकुटि-भंग, तिरस्कार तथा क्रोध आदि लक्षण होते हैं। मदिरादि के सेवन से जो मानसिक शिथिलता होती है, उसे मद कहते हैं।[१] मद आनन्द एवं बेहोसी का मिश्रण है। मद से उत्तम पुरुष सो जाते हैं मध्यम पुरुष हँसते हैं और अधम पुरुष विलाप करते हैं। अत्यधिक कार्य के फलस्वरुप जो शारीरिक क्लान्ति होती है, उसे श्रम कहते हैं। श्रृंगारादि क्रियाओं से उत्पन्न चित्त की उदासी एवं निष्क्रियता को आलस्य कहते हैं। पसीना और वैवर्ण्य दोनों के सामान्य लक्षण हैं। दशरुपक के रचयिता ने संचारी भावों का विशद वर्णन किया है। अपमान का चिन्तन करते हुए सत्त्व से अपभ्रंश होने का नाम दैन्य है। चेहरे का रंग फीका पड़ जाना तथा वस्त्रों और दाँतों का मलिन हो जाना इसके अनुभाव है। करणीय के उपाय का न सूझना मोह कहलाता है। किसी पूर्वानुभूत वस्तु के प्रत्यभिज्ञान को पण्डितराज जगन्नाथ ने संस्कार में विद्यमान ज्ञान के स्मरण को स्मृति कहा है।[२] तत्त्व ज्ञान की सहायता से अर्थधारण करने का नाम मति है।

अनुराग एवं रत्यादि के कारण चित्त में होने वाले संकोच को क्रीडा कहते हैं।[३] दृष्टि को टेढ़ा कर लेना, शरीर को छिपाना, रंग फीका पड़ जाना, मुंह नीचा कर लेना आदि इसके अनुभाव हैं। प्रतिकार की भावना से व्यक्ति में आने वाले उद्वेग को आवेग कहते हैं। धनंजय ने आवेग का कारण सम्भ्रम माना है।[४] सम्भ्रम घबराहट की स्थिति में भी होता है। शीघ्रता से दौड़ना, स्तब्ध हो जाना, काँपना आदि इसके अनुभाव होते हैं। प्रतिकार की भावना उदय होने पर कर्तव्य करने में प्रतिभा कुण्ठित हो जाये तो उसे जडता कहते

---

१. मदिरादिप्रयोगोत्थं मनः सम्मोहनं मदः।

अग्निपुराण—३३९/२३

२. संस्कारजन्यज्ञानं स्मृतिः।

रसगंगाधर प्रथम आनन पृ० २९८

३. दुराचारादिभिव्रीडा धाष्ट्याभावस्तमुन्नयेत्।

(दशरूपक चतुर्थ प्रकाश कारिका २४)

४. आवेगः सम्भ्रमो ....।

(दशरूपक चतुर्थ प्रकाश कारिका २८)

हैं। लक्ष्य प्राप्ति से उत्पन्न होने वाली आत्मसंयम की भावना को धृति या धैर्य कहते हैं। अग्निपुराण में भी इष्ट प्राप्ति से उत्पन्न अभ्युदय के भाव को धैर्य कहा गया है।[1] शान्तरस के साथ इसका विशेष संयोग होता है। अपने उत्कर्ष की भावना से दूसरों का अनादर करने का भाव गर्व कहलाता है। वीर और रौद्र से इसका विशेष संबंध है।

किसी दैवी कारणवश प्रिय वस्तु के विनाश से जो आघात पहुचता है, उसे विषाद कहते हैं। इप्सित वस्तु की प्राप्ति के लिए जो मन की चंचलता होती हैं, उसे औत्सुक्य कहते हैं। अग्निपुराण के अनुसार चित्त की जड़ता को एवं इन्द्रियों की विक्षुब्धावस्था को अपस्मार कहते हैं।[2] यह लोक में मिरगी कहा जाता है। पृथ्वी पर गिरना, काँपना, पसीना आना और फेन इत्यादि गिरना इसके लक्षण है। आचार्य धनंजय के अनुसार आवेश एवं दुःख इत्यादि अपस्मार के कारण है।[3]

युद्ध में किसी भय या घबड़ाहट की स्थिति में आश्चर्य जनक पदार्थ देखने और सुनने में बोलते समय जो द्वित्व का प्रयोग होता है, उसे वीप्सा कहते हैं। क्रोध का शान्त न होना अमर्ष कहलाता है। इसमें ईर्ष्या का भी भाव रहता है। क्षत्रियों के लिए ऐसा क्रोध उचित है। जब तक प्रतिकार सिद्ध नहीं हो जाता, उनका क्रोध शान्त नहीं होता है। चेतना के उदय होने का नाम प्रबोध है। अग्निपुराण में जिसे प्रबोध कहते हैं, उसे पण्डितराज जगन्नाथ ने विबोध नाम दिया है।[4] अग्निपुराण के अनुसार जब किसी वस्तु को छिपाकर इंगित या आकार द्वारा उस रहस्य को प्रकट किया जाता है, तब अविहित्था भाव होता है।[5] वक्ता का क्रोध के वशीभूत होकर परुष वचनावलि का प्रयोग

१. इष्टप्राप्तिरूपचित्तः सम्पदाभ्युदयो धृतिः।
(अग्निपुराण-३३९/२६)

२. चित्तेन्द्रियाणां स्वैमित्यमपस्मारो अवस्थितिः।
(अग्निपुराण-३३९/३१)

३. आवेशो ग्रहदुःखाद्यैरपस्मारो यथाविधि। -४/२५

४. निद्रानाशोत्तरं जायमानो बोधो विबोधः।
(रसगंगाधर प्रथम आनन पृ० ३२६)

५. अविहित्थं भवेद्गुप्तिरिङ्गताकार गोचरा।
(अग्निपुराण-३३९/३२)

करना उग्रता है। इसका प्रयोग रौद्ररस के वर्णन में अत्यधिक होता है। किसी प्रस्तुत समस्या के आधार पर तर्क और वितर्क की सम्भावना बनी रहने को ऊहा कहते हैं। मन और शरीर की जडता व्याधि है। जब वक्ता काम या मद के वशीभूत होकर अनर्गल प्रलाप करता है तब उस स्थिति को उन्माद कहते हैं। श्रृंगार एवं करुण में इसका प्रयोग द्रष्टव्य है। तत्त्वज्ञान के उदय से संसार के प्रति जो उदासीनता उत्पन्न होती है, उसे शम कहते हैं।

अभिलषित वस्तु के प्राप्त न होने तथा प्रिय का समाचार और कुशल सन्देश न मिलने से जो मानसिक अवस्था होती है, उसे चिन्ता कहते हैं। भीरु व्यक्तियों के हृदय में व्याघ्र आदि भयानक प्राणियों के दर्शन से या बिजली इत्यादि की कड़क से जो अनोखी चित्तवृत्ति होतो है। उसे त्रास कहते हैं।[1] प्रतिपक्ष की अशिष्टता इत्यादि देखकर जो उग्र क्रोध उत्पन्न होता है, उसे मन्यु कहते हैं।

पण्डितराज जगन्नाथ ने इन सर्व मान्य ३३ संचारी भावों के अतिरिक्त एक चौतीसवाँ भाव बतलाया है और वह भाव गुरुदेव नृप और पुत्रादि के प्रति प्रेम है।[2] परन्तु इस चौतीसवें भाव का अलग से कोई महत्त्व नहीं है, क्योकि यह भी ३३ संचारी भाव में कहीं न कहीं समाहित हो जाता है। अन्य समालोचकों ने इसे अलग नहीं किया है।

अग्निपुराण के अनुसार कवियों को चाहिए कि वे अपने काव्य में भावों को उचित रसों के साथ संयोजित करें, क्योंकि रत्यादि भावों के कारण रस उत्कर्ष प्राप्त कर अनुभूति का विषय बनता है।[3]

विभाव

रति आदि स्थायी भावों को विशेष रूप से आस्वाद्य बनाने के कारण इनको विभाव कहा जाता है। जगन्नाथ विभाव की परिभाषा बताते हुए कहते हैं कि कारण रुप में हम जिनको आलम्बन और उद्दीपन रूप में जानते हैं, वे जब

---

१. भीरोर्घोरसत्त्वदर्शन-स्फूर्जद्धुश्रवणादिजन्मा चित्तवृत्ति विशेषस्त्रासः।
(रसगंगाधर प्रथम आनन पृ० ३२५)

२. गुरुदेव-नृपपुत्रादि-विषयारतिश्चेति चतुस्त्रिंशत्।
(रसगंगाधर प्रथम आनन पृ० २६८)

३. कविभिर्योजनीया वै भावा काव्यादिके रसाः।
विभाव्यते हि रत्यादिर्यत्र येन विभाव्यते॥
(अग्निपुराण- ३३९/३५)

काव्य अथवा नाटक में वर्णित होकर उक्त स्थायी भावों के व्यंजक होते हैं, तब वे विभाव कहलाते हैं। धनंजय ने लिखा है कि जो रस परिपोषक तत्वों को और भी पुष्ट करते हैं, उन्हे विभाव कहते हैं।[1] विश्वनाथ के अनुसार इस संसार में जो पदार्थं लौकिक रत्यादि भावों के उद्‌बोधक हुआ करते हैं, वे ही काव्य में निविष्ट होने पर विभाव कहे जाते हैं।[2] अग्निपुराण में विभाव को रस परिपाक में सहायक बतलाते हुए आलम्बन और उद्दीपन विभाव की प्रकल्पना की गई है।

अनुभाव

ये अनुभव किए जाते हैं अतः इनको अनुभाव कहते हैं। मन की स्मृति से, वाणी की इच्छा से, बुद्धि की प्रेरणा से एवं शरीर के यत्न से आलम्बन विभाव के उद्‌बुद्ध एवं परिष्कृत भावों में आरम्भ को विद्वानों ने अनुभाव कहा है।[3] दशरूपककार ने अनुभाव को भाव सूचनात्मक विकार कहा है।[4] मानसिक व्यापारों के आधिक्य को आरम्भ कहा जाता है। ये स्त्री और पुरुषों में भिन्न भिन्न प्रकार के होते हैं। पुरुषों में रहने वाले मनोव्यापार आठ हैं। शोभा, विलास, माधुर्य, स्थैर्य, गाम्भीर्य, ललित, औदार्य एवं तेज। अग्निपुराण में इनके लक्षण मात्र गिनाए गए हैं। उनका विस्तार नहीं किया गया है शोभा का लक्षण बतलाते हुए उसका विशेष महत्त्व प्रतिपादित किया गया है। शूरता और दक्षता आदि के कारण नीचों की निन्दा और उत्तम जनों के प्रति स्पर्द्धा को शोभा कहते हैं। इससे व्यक्ति की शोभा उसी प्रकार होती है, जैसे प्रसाधनों से भवन की।[5]

---

१. ज्ञानमानतया तत्र विभावो भावपोषकृत्।
आलम्बनोद्दीपनत्वप्रभेदन स च द्विधा॥ (दशरूपक- ४/२)

२. रत्याद्युद्‌बोधका लोके विभावाः काव्यनाट्ययोः।
आलम्बनोद्दीपनाख्यौ तस्य भेदावुभौ स्मृतौ॥
(साहित्य-दर्पण-३/पृ० १३५)

३. आरम्भ एवं विदुषामनुभाव इतिस्मृतः।
स चानुभूयते मात्र भवत्युत निरुच्यते॥ (अग्निपुराण-३३९/४५)

४. अनुभावो विकारस्तु भावसंसूचनात्मकः। (दश.रूपक-४/पृ० ३०३)

५. नीचनिन्दोत्तमस्पर्धा शौर्य-दाक्षादिकारणम्।
मनोधर्मे भवेच्छोभा शोभते भवनं यथा॥ अग्निपुराण-३३९/४८

स्त्रियों का मनोभाव

नायिका में रहने वाले मनोभाव बारह हैं। ये भाव, हाव, हेला, शोभा, कान्ति, दीप्ति, माधुर्य, शौर्य, प्रगलम्भ, उदारता, स्थिरता एवं गम्भीरता हैं।[१] इसमें शोभा, गाम्भीर्य, औदार्य, दीप्ति या तेज, माधुर्य, स्थैर्य और हेला या विलास ये स्त्री और पुरुष दोनों में सामान्य है। स्त्रियों में भावकान्ति, हाव और शौर्य पुरुषों से अतिरिक्त मनोभाव हैं किन्तु सबसे महत्वपूर्ण भाव शोभा है।

रसों का उद्गम

भरत मुनि के अनुसार मूल रस चार हैं एवं अन्य चार रस उसी से उद्भूत होते हैं। श्रृंगार, रौद्र से करुण की, वीर से अद्भुत की तथा वीभत्स से भयानक रस की उत्पत्ति होती है। श्रृंगार का अनुकरण करने वाली प्रवृत्ति को ही हास्य कहा जाता है। रौद्र का कर्म करुण, वीर का कार्य अद्भुत तथा वीभत्स वस्तु एवं उसे देखने का कार्य भयानक रस समझना चाहिए। यहाँ पर शृंगारादि चार रस हास्यादि चार रसों की उत्पत्ति के कारण कहे गए हैं। विष्णुधर्मोत्तर पुराण में भी लिखा है कि शृंगार से हास्य, रौद्र से करुण, वीर से अद्भुत और वीभत्स से भयानक रसकी उत्पत्ति होती है।[२]

रस एवं उनके वर्ण

भरत मुनि ने रसों के अनुकूल उनके रंगों का वर्णन किया है। शृंगार रस का वर्ण श्याम है, हास्य रस का श्वेत, करुण रस का कपोत वर्ण है, रौद्र का रंग रक्त है। वीर रस का रंग गौर तथा भयानक रस रंग काला है। वीभत्स का रंग नील तथा अद्भुत का रंग पीत है। विष्णुधर्मोत्तर पुराण में रसों के अनुकूल उनके रंगों का वर्णन किया गया है। ये रंग भरतमुनि के समान

---

१. भावो हावश्च हेला च कान्तिस्तथैव च।
दीप्ति माधुर्य शौर्य च प्रागल्भ्यं स्यादुदारता ॥
स्थैर्य गम्भीरता स्त्रीणां विभावा द्वादशोदिता।

(अग्निपुराण-३३९/४९ एवं ५० का पूर्वार्द्ध)

२. विष्णुधर्मोत्तर पुराण-पृष्ठ ३२५।

ही हैं।[1]

रस एवं उनके देवता

रसों के रंग के समान उनके देवताओं का निर्देश किया गया है। विष्णु-धर्मोत्तर पुराण में रस-विषयक देवता का वर्णन करते हुए लिखा गया है कि हास्य के देवता प्रमथगण हैं और शृंगार के विष्णु। रौद्र रस के देव रुद्रशंकर और करुण रस के अन्तक यमराज हैं। वीभत्स-रस के महाकाल तथा भयानक रस के काल हैं। वीर रस देवता के महेन्द्र तथा अद्भुत रस के ब्रह्मा हैं। शान्त रस के देव परम पुरुष हैं। इस कारण शान्त रस की उत्पत्ति वैराग्य से समझनी चाहिए।[2]

रस-विश्लेषण

अग्निपुराण में रस को बहुत महत्त्व पूर्ण स्थान दिया गया है। अतएव शृंगारादि रस निरूपण के अनन्तर अभिनयादि निरूपण में रस का पुनः उल्लेख किया गया है। अग्निपुराण में नवरस की मान्यता स्थापित की गई।

शृंगार

शृंगार रस के संयोग और विप्रलम्भ दो भेद हैं। इसके प्रच्छन्न और प्रकाश

---

१. शान्त-स्वभाव-वर्णस्तु, रसः प्रोक्तो नराधिप।
शृंगारस्तु भवेच्छ्यामो रक्तो रौद्रः प्रकीर्तितः॥
सितो हास्यश्च विज्ञेयः कृष्णश्चैव भयानकः।
गौरो वीरस्तु विज्ञेयः पीताश्चैवाद्भुतः स्मृतः॥
कपोतकारुणश्च नीलोवीभत्समेव च।
(विष्णुधर्मोत्तर पुराण-३०/३, ५ एवं ६ का पूर्वार्द्ध)

२. हास्यप्रमथदेवस्तु शृंगारो विष्णुदैवतः॥
रौद्रोरौद्राधिदेवश्च करुणो यमदैवता।
वीभत्सस्य महाकालः कालदेवो भयानकः॥
वीरो महेन्द्रदेवः स्यादद्भुतो ब्रह्मदैवतः।
शान्तस्य देवो विज्ञेयः परः पुरुष एव तु॥
शान्तस्य समुत्पत्तिर्नृप वैराग्यतः स्मृता।
(विष्णुधर्मोत्तर पुराण-३०/६ का उत्तरार्द्ध ७, ८, एवं ९ का पूर्वार्द्ध)

नामक दो भेद और किए गये हैं। अग्निपुराण के अनुसार विप्रलम्भ के चार भेद होते हैं। पूर्वराग, मान, प्रवास और करुण।

इसमें पूर्वराग अर्थात् विवाह से पूर्व का राग है। विवाहोत्तर वियोग, प्रवास और करुण न हो तो वह संयोग-श्रृंगार कहलाता है। श्रृंगार रस का सम्बन्ध स्त्री और पुरुष से है। इसका निर्वाह रति स्थायी भाव द्वारा होता है। इस रस में समस्त सात्विकों का समावेश रहता है, परन्तु वैवर्ण्य और प्रलय का समावेश अनिष्ट है।[1]

धर्मार्थ, काम, मोक्ष के साथ आलम्बनादि के द्वारा श्रृंगार निरन्तर बढ़ता रहता है। श्रृंगार के मुख्य रूप से दो भेद हैं। एक तो साहित्यिक रूप जो काव्यादि में स्थिर रहता है और पाठन के द्वारा सहृदयों में आह्लाद उत्पन्न करता है। दूसरा अभिनेय रूप है, जो नाटकादि में रहता है और दृष्टिपथ से सहृदय दर्शकों को आप्लावित करता है। ध्वन्यालोककार ने लिखा है कि यदि श्रृंगारी है तो उसका काव्य जगत भी रसमय होगा।[2] यह श्लोक अविकल रूप से अग्निपुराण में भी प्राप्त होता है।[3]

श्रृंगार रस का महत्त्व बतलाते हुए आनन्दवर्धनाचार्य ने लिखा है कि यह मधुर एवं आह्लाद प्रदान करने वाला रस है। यह काव्य का आश्रय लेकर माधुर्य की प्रतिष्ठा करता है।[4] आगे इस रस के विषय में उन्होंने लिखा है कि यह सुकुमार है। इसका वर्णन करते समय विरोध और अविरोध का सर्वत्र निरूपण करना चाहिए, क्योंकि तनिक सा भी प्रमाद तुरन्त खटकता है।[5] इस सन्दर्भ में आगे कहा गया है कि श्रृंगार रस में अनुप्रास इत्यादि अलंकारों का अधिक प्रयोग नहीं होना चाहिये। इससे रसानुभूति में बाधा

---

१. निखिला सात्त्विकास्तत्र वैवर्ण्यप्रलयौ विना। अग्निपुराण—३४२/७

२. अवधानातिशयवान् रसे तत्रैव सत्कविः।
भवेत् तस्मिन् प्रमादो हि झटित्येवोपलक्ष्यते ॥ ध्वन्यालोक—३/२९

३. श्रृंगारी चेत्कविः काव्ये जातं रसमयं जगत्।
स चेत्कविः वीतरागो, नीरसं व्यक्तमेव तत् ॥
ध्वन्यालोक तृतीय उद्योत पृ० ३१२

४. — — —तथा अग्निपुराण—३३९/११

५. श्रृंगार एवं मधुरः परः प्रह्लादनो रसः।
तन्मयं काव्यमाश्रित्य माधुर्यं प्रतिष्ठति ॥ ध्वन्यालोक—२/७

आती है ।[1]

विप्रलम्भ शृंगार में यमक इत्यादि का निबन्धन कवि के प्रमाद का सूचक है । शृंगार रस के विषय में भरतमुनि ने लिखा है कि इसमें सभी कथित अनुभावों और भावों का वर्णन होना चाहिए तथा नायक का मिलन इसमें मुख्य होता है ।[2]

हास्य रस

हास्य रस के विषय में भरतमुनि ने लिखा है कि किसी का विकृत अंग या अन्य कोई विकार देखकर जो हंसी उत्पन्न होती है, वही हास्य रस है ।[3] अग्नि-पुराण में हास्य चार प्रकार का बतलाया है । जिसमें केवल दाँत की झलक लक्षित हो, उसे स्मित कहते हैं, जिसमें दाँतों का अग्रभाग थोड़ा-थोड़ा दिखलाई पड़े और नेत्रों में भी उल्लास हो, उसे हसित कहते हैं । जिस हास्य में मधुर-मधुर शब्द भी हों उसे विहसित तथा जहाँ मुख भी खुल जाये और शब्द भी हों, उसे अपहसित कहते हैं । इस अपहसित हास्य विकृत हास्य है ।[4]

भरत मुनि के नाट्यशास्त्र में हास्य के ६ प्रकार बतलाए गए हैं । स्मित, हसित, विहसित, उपहसित, अपहसित तथा अतिहसित । वास्तव में ये अग्नि-पुराण के चार प्रकारों का प्रकारान्तर है । पुराण में स्मित और हसित का लक्षण एक सा ही है । अतिहसित नाट्यशास्त्र में एक अतिरिक्त श्रेणी है और इसे

---

१. शृंगारस्याङ्गिनो यत्नादेकरूपानुबन्धवान् ।
सर्वेष्वेव प्रभेदेषु नानुप्रासः प्रकाशकः ।। ध्वन्यालोक—२/१४

२. सुखप्रायेष्ट सम्पन्न-ऋतुमाल्यादिसेवकः ।
पुरुषप्रमादयुक्तः शृंगाररतिसंज्ञितः ।।
नाट्यशास्त्र—६/४७

३. विकृतैरंग-विकारैर्हसतीति रसः स्मृतो हास्यः ।
नाट्यशास्त्र—६/५०

४. हासश्चतुर्विधो लक्ष्यदन्तः स्मित इतीरित ।।
किंचिल्लक्षितदन्ताग्रं हसितं फुल्ललोचनम् ।
विहसितं सस्वनं स्याज्जिह्मोपहसितं तु तत् ।।
सशब्दं पापहसितमशब्दयतिहासितम् ।
अग्निपुराण—३४२/६ का उत्तरार्द्ध १० एवं ११ का पूर्वार्द्ध

अपहसित का विकृतरूप समझना चाहिए। धनंजय ने भी हास्य के छः प्रकार बतलाए हैं। निद्रा, आलस्य, ग्लानि, और मूर्छा ये हास्य रस के संचारी-भाव होते हैं।

करुण

नाट्यशास्त्र में करुण रस के विषय में लिखा गया है कि यह शोक उत्पन्न करने वाली दशा से उत्पन्न होता है। शाप, क्लेश, पतन, प्रियजन-वियोग, सम्पत्ति-हानि, मृत्यु, कारागार में बन्धन, भगदड़, दुर्भाग्य वश चोट लग जाना तथा अन्य कष्टों की उपलब्धि आदि विभावों से उत्पन्न होता है।[1] अग्निपुराण के अनुसार करुण रस के तीन भेद हैं, धर्म के उपघात से उत्पन्न, विलास से उत्पन्न तथा शोक से उत्पन्न।[2]

नाट्यशास्त्र में तीन प्रकार का करुण रस दिखलाया गया है। धर्महानि के द्वारा उद्भूत शोक चित्तग्लानि-जन्य शोक तथा वियोग-जन्य शोक, अभिनय की दृष्टि से करुण रस का निबन्धन करते समय अश्रुपात, प्रलाप मुख का सूख जाना, मुंह का उतर जाना, शरीर की शिथिलता, उच्छ्वास लेना तथा स्मृति-लोप आदि अनुभावों को प्रकट करता है। करुण रस से अलौकिक सुख की उत्पत्ति होती है। विश्वनाथ ने कहा है कि करुण रस से जो अलौकिक आनन्द की अनुभूति होती है, उस विषय में सहृदय व्यक्तियों का अनुभव प्रमाण है।[3]

केशवदास ने करुण रस के विषय में रसिकप्रिया में लिखा है कि जहाँ पर सुख के सब उपाय छूट जाते हैं, वहाँ पर करुण रस अपने आप ही फूट पड़ता है।[4]

---

१. इष्टवधदर्शनाद्वा, विप्रियवचनस्य संश्रवाद्वापि।
एभिर्भावविशेषैः करुणरसो नाम सम्भवति॥

नाट्यशास्त्र—६/६३

२. धर्मोपघातजश्चित्त-विलासजनितस्तथा।
शोकः शोकाद्भवेत्स्थायी कः स्थायी पूर्वजो मतः॥

अग्निपुराण—३४२/१२

३. करुणादावपि रसे जायते यत्परं सुखम्।
सचेतसामनुभवः प्रमाणं तत्र केवलम्॥ साहित्यदर्पण—

४. छूटिजात केशव जहाँ, सुख के सबै उपाय।
करुणारस उपजत तहाँ, आपन ते अकुलाय॥ रसिकप्रिया

रौद्ररस

रौद्ररस का स्थायी भाव क्रोध होता है। भरतमुनि के अनुसार इसका मुख्य कारण आततायी के प्रति क्रोध होता है। इसका उद्भव राक्षस, दानव तथा उद्धत प्रकृति के लोगों में संग्राम द्वारा होता है।[१] बलात् खींचना, दुर्वचन, अपमान, असत्य वचनों द्वारा आरोप, कठोर वचन, द्रोह और मात्सर्य आदि विभावों के द्वारा क्रोध उत्पन्न होता है। अग्निपुराण के अनुसार रौद्ररस के तीन भेद माने गये हैं अंगरौद्र, नेपथ्यरौद्र तथा वाक्यरौद्र। नाट्य-शास्त्र में भी इन्हीं तीन प्रकारों का समर्थन किया गया है। रौद्ररस का अभिनय करते समय आंखें लाल, स्वेद प्रसार तथा भृकुटी-भंग, दांत और ओठ चबाना गालों को फुलाना, हाथ मलना इत्यादि अनुभावों को प्रकट करना चाहिए। भरतमुनि ने रौद्र रस का आश्रय मुख्य रूप से राक्षसों को माना है।

वीररस

भरतमुनि ने वीर रस को उत्साह भाव से संयुक्त बतलाया है। इसका आश्रय उत्तम प्रकृति का वीर होता है।[२] अग्निपुराण एवं नाट्यशास्त्र के अनुसार इसके तीन भेद हैं- दानवीर, धर्मवीर तथा युद्धवीर। पण्डितराज जगन्नाथ ने इसके चार भेद स्वीकार किए हैं—दानवीर, दयावीर, युद्धवीर तथा धर्मवीर।[३] धनंजय ने इसके तीन भेद स्वीकार किए हैं। वास्तव में पण्डितराज जगन्नाथ के चार भेद इन्हीं तीन भेदों में समाहित हो जाते हैं। नाट्यशास्त्र में इस तरह का कोई वर्गीकरण नहीं दिया गया है। प्रताप, विनय, अध्यवसाय तेज, मोह, विवाद का अभाव, नीति, विस्मय और पराक्रम आदि इसके विभाव होते हैं।

---

१. युद्धप्रहारद्योतनं विकृतच्छेदन विदारणैश्चैव।
सङ्ग्रामसम्भ्रमाद्यैरेभिः संजायते रौद्रः॥
नाट्यशास्त्र—६/६५

२. अथ वीरोनामोत्तम प्रकृतिरुत्साहात्मकः।
नाट्यशास्त्र—६/पृ०३३६

३. वीरश्चतुर्धा दान-दया-युद्ध-धर्मस्तदुत्पाद्यैरुत्साहास्य चतुर्विधत्वात्।
रसगंगाधर प्रथम आनन/पृ० १६३

(६) भयानक रस

अग्निपुराण के अनुसार वीर रस की पूर्वावस्था भय है।[१]

भयानक रस का स्थायी भाव भय है। मुख्य रूप से नीच व्यक्ति, बालक तथा स्त्रियों में इसकी मात्रा अधिक होती है। उत्तम प्रकृति में यह भय राजा और गुरु में पाया जाता है। शरीर के अवयवों में जैसे मुख तथा नेत्रों के भाव में परिवर्तन, पिण्डलियों के जड़ होने, चारों ओर देखने, उद्विग्न होने, झुके हुए कन्धे, मुख के सूखने, हृदय के धड़कने तथा रोमांच आदि के द्वारा भयानक रस का भाव अभिनीत होता है।[१]

बीभत्स रस

बीभत्स का स्थायी भाव घृणा है। अप्रिय या घृणास्पद पदार्थ को देखने से अप्रिय गन्ध सूघने या अप्रियवस्तु के स्पर्श से अथवा अनेक त्रासदायक वस्तुओं के अनुभव करने से जो भाव उत्पन्न होता है उसे भरतमुनि एवं अन्य विद्वानों ने वीभत्स रस नाम दिया है।[२]

आचार्य धनंजय ने बीभत्स रस के तीन भेद किए हैं उद्वेग, क्षोभण तथा युद्ध। अग्निपुराण में बीभत्स रस के दो भेद किए गए हैं उद्वेजन और क्षोभण। इस रस में सात्विक अंश नहीं रहने पाता है। अग्निपुराण में नौ रसों की स्थापना तो की गई है पर अद्भुत और शान्त रस के लक्षण नहीं दिये गये।

(८) अद्भुत रस

विस्मय अद्भुत रस का स्थायी भाव है। धनंजय के अनुसार लोकोत्तर पदार्थ का दर्शन विस्मय पैदा करता है विस्मय अद्भुत रस का प्राण है और उसमें चमत्कार पैदा करता है।[3] अतिशयोक्ति पूर्ण वाक्य, शिल्प कर्म तथा रूप

---

१. आरम्भेषु भवेद्यत्र, वीरमेवानुवर्तते।
भयानको-नाम रसस्तस्य निवर्तकं भयम्॥

(अग्निपुराण-३४२/१५)

२. अनभिमतदर्शनेन च गन्धरसस्पर्शशब्ददोषैश्च।
उद्वेजनैश्च बहुभिर्बीभित्स--रसः समुद्भवति॥

(नाट्यशास्त्र-६/७४)

३. अतिलोकैः पदार्थैः स्याद्विस्मयात्मा रसोऽद्भुतः।

दशरूपक—४/७८

ये अद्भुत रस के विभाव हैं। भरतमुनि ने अद्भुत रस के दो भेद किए हैं, दिव्य तथा आनन्दज।

शान्त रस

शान्त रस का स्थायी भाव निर्वेद होता है। अभिनय की दृष्टि से शान्त रस का महत्त्व विशेष नहीं होता है। भरत मुनि ने इसका अलग से विवरण नहीं दिया है। शान्तरस को पृथक् रस के रूप में स्थापित करने में समालोचकों में बहुत मतभेद हैं। अग्निपुराण के समान विष्णुधर्मोत्तरपुराण में रस की विस्तृत विवेचना नहीं की गई है, परन्तु समवेत रूप में सभी रसों का महत्त्व सम्यग्रूपेण प्रतिपादित किया गया है।[1]



१. बन्धो रसानुगः कार्यः सर्वेष्वेतेषु यत्नतः।
रसप्रधानमेवैतत्सर्वं नाट्यं नराधिप ॥

विष्णुधर्मोत्तर पुराण तृतीय खण्ड—१७/६३

नायकभेद

अग्निपुराण में कहा गया है कि आलम्बन विभाव नायक नायकादि में होता है अथवा नायक और नायिका को आलम्बन विभाव कहते हैं।[1] आलम्बन विभाव के वर्णन के अन्तर्गत नायक और नायिका भेदों पर भी विस्तार से विचार किया गया हैं। अग्निपुराण में पहले नायक फिर नायिका भेद वर्णित है किन्तु विष्णुधर्मोत्तर पुराण में नायक भेद नहीं है, किन्तु नायिका के ८ भेद बतलाए गए हैं।[2]

अग्निपुराण के अनुसार नायक के धीरोदात्त, धीरोद्धत धीरललित एवं धीरप्रशान्त ये मुख्य चार भेद हैं, और उन भेदों के भी अनुकूल, दक्षिण शठ और धृष्ठ ये चार उपभेद हैं, जिनका क्रमिक वर्णन नीचे है।[1]

साहित्यदर्पण एवं दशरूपक में भी नायक के चार भेद बतलाए गए हैं। श्रृंगार रस में नायक को नायिका से मिलाने में तीन सहायक हैं, जो पीठमर्द, विट और विदूषक नाम से जाने जाते हैं। पीठमर्द नायक का कुशल सहायक होता है और विट उसका अंतरंग मित्र होता है। विदूषक राजा का विनोदी सहायक होता है और वसन्तक इत्यादि उसका नाम होता है।[2] अग्निपुराण में

---

१. विभावो नाम स द्वेधाऽऽलम्बनोद्दीपनात्मकः।
रत्यादिभाववर्गोऽयं यमाजीव्योपजायते ।। (अग्निपुराण-३३९/३६)

२. आलम्बनविभावोऽसौ नायिकादिभवस्तथा। (अग्निपुराण- ३३९/३७)

१. धीरोदात्तो, धीरद्धतः, स्याद्धीरललितस्तथा।
धीरप्रशान्त इत्येव चतुर्धा नायकः स्मृतः।
अनुकुलो दक्षिणश्च शठो धृष्टः प्रवर्तितः। (अग्निपुराण-३३९/३८)

२. दूरानुवर्तिनि स्यात्तस्य प्रासङ्गिकेतिवृत्ते तु।
किंचित् गुणहीनः सहाय एवास्य पीठमर्दाख्यः।।
सम्भोगहीनसम्पद्विटस्तु धूर्तः कलैकदेशज्ञः।
वेशोपचारकुशलो वाग्मी मधुरोऽथ बहुमतो गोष्ठ्याम् ।।
कुसुमवसन्ताद्यभिधः कर्मवपुर्वेशभाषायैः।
हास्यकरः कलहरतिर्विदूषकः स्यात् स्वकर्मज्ञः।।
(साहित्यदर्पण-३।३९, ४१, एवं ४२)

तीनों की परिभाषा एक कारिका मात्र में दी गई है ।[1]

धीरोदात्त

धनंजय के अनुसार जो बहुत तेजस्वी हो, अत्यधिक गंभीर हो, सहनशीलता के गुणों से युक्त हो तथा अपने विषय में बढ़-बढ़ कर बातें नहीं करता हो तथा जिसका अहंकार गूढ हो, बात-बात में जो गर्व न प्रदर्शित करता हो तथा दृढ़व्रती हो उसे धीरोदात्त कहते हैं ।[2]

आचार्य विश्वनाथ ने लिखा है कि जो नायक आत्मश्लाघा से रहित हो, दृढ़व्रती हो तथा सुख-दुख में अडिग रहनेवाला हो उसे धीरोदात्त नायक कहते हैं ।[3] इनकी परिभाषा पर दशरूपककार की छाया स्पष्ट है । सब नायकों में यह सर्वश्रेष्ठ माना गया है ।

धनंजय ने लिखा है जिस नायक में दर्प और मात्सर्य की मात्रा अधिक हो जो माया और छद्म से युक्त हो, अत्यधिक चंचल और उग्र स्वभाव वाला हो उसे धीरोद्धत कहते हैं ।[4] विश्वनाथ ने लिखा है कि जो मायापटु हो उग्रस्वभाव वाला हो, अस्थिर चित्त वाला हो तथा दर्प एवं अहंकार से युक्त हो तथा नित्य

---

१. पीठमर्दस्तु कुशलः श्रीमांस्तद्देशजो विटः ।
विदूषको वैहासिक स्त्वष्ट नायकनायिका ।।

(अग्निपुराण-३३९।४०)

२. महासत्त्वोऽतिगम्भीरः क्षमावानविकत्थनः ।
स्थिरोनिगूढ़ाहङ्कारो धीरोदात्तः दृढव्रतः ।।

(दशरूपक- २।४)

३. अविकत्थनक्षमावानवतिगम्भीरो महासत्त्वः ।
स्थेयान्निगूढमानो, धीरोदात्तो दृढव्रतः कथितः ।।

(साहित्यदर्पण-३।३२)

४. दर्पमात्सर्यभूयिष्ठो मायाछद्मपरायणः ।
धीरोद्धतस्त्वहङ्कारी चलश्चण्डो विकत्थनः ।।

(दशरूपक- २।५)

ही आत्मश्लाघा में रत हो उसे धीरोद्धत नायक कहते हैं ।[1]

धीरललित

धनंजय के अनुसार निश्चिन्त, कलाविद्, सुखी और कोमल स्वाभाव वाले नायक को धीरललित कहते हैं। यह आत्मश्लाघा और दर्प इत्यादि दुर्गुणों से दूर होता है ।[2] विश्वनाथ ने लिखा है कि जो निश्चिंत रहने वाला हो स्वभाव का मृदु और कलाव्यसनी हो वह धीरललित नायक होता है। नाटिका का नायक सदैव धीरललित होता है ।

धीरप्रशान्त

इस नायक के विशिष्ट लक्षण न देकर धनंजय ने लिखा है कि जो सामान्य गुणों से युक्त हो तथा ब्राह्मण आदि हो, उसे धीरप्रशान्त नायक कहते हैं ।[3] विश्वनाथ ने धीरप्रशान्त नायक के विषय में लिखा है कि सामान्य गुणों से युक्त ब्राह्मण आदि धीरप्रशान्त नायक होते हैं। दोनों ही परिभाषाओं में पर्याप्त साम्य है ।[4] नायक के उपभेदों का भी क्रमिक वर्णन किया गया है ।

अनुकूल

एक ही पत्नी में निरत नायक अनुकूल नायक कहलाता है। इस विषय में धनंजय एवं विश्वनाथ का एक ही मत है ।[5]

---

१. मायापरः प्रचण्डश्चपलोऽहङ्कारदर्पभूयिष्ठः ।
आत्मश्लाघानिरतो धीरो धीरोद्धतः कथितः ॥

(साहित्यदर्पण- ३।३३)

२. निश्चिन्तो धीरललितः कलासक्तः सुखीमृदुः ।

(दशरूपक- पृ० १६६)

३. सामान्यगुणयुक्तस्तु धीरशान्तो द्विजादिकः ।

(हिन्दी दशरूपक- २।पृष्ठ १६६)

४. सामान्यगुणैर्भूयान् द्विजादिको धीरप्रशान्तः ।

(साहित्यदर्पण- ३।४५)

५. अनुकूलस्त्वेकनायिका ।

(दशरूपक- २।७)

अनुकूलः एकनिरतः ।

(साहित्यदर्पण- ३।१४३)

दक्षिण

यह अनुकूल नायक के बिल्कुल विपरीत होता है। यह अनेक स्त्रियों के साथ समाम से प्रेम करता रहता है परन्तु अपनी व्यवहार-कुशलता के कारण शंका का पात्र नहीं होता है।[1] धनंजय ने दक्षिण नायक को सहृदय बतलाया है।[2]

शठ

शठ नायक भी दक्षिण नायक की तरह अनेक स्त्रियों में अनुरक्त रहता है परन्तु इसमें और दक्षिण में स्वभाव का अन्तर है। दक्षिण नायक अपना आचरण दाक्षिण्य पूर्वक करता है जब कि शठनायक शठतापूर्वक आचरण करता है। यह ऊपर से कपटप्रेम दिखलाकर अन्दर से विपरीत आचरण भी कर सकता है।[3] धनंजय ने इसे छिपे आचरण वाला तथा विपरीप आचरण करनेवाला शठ बतलाया है।[4]

धृष्ट

यह नायको की श्रेणी में अधमतम है। विश्वनाथ ने धृष्ठ नायक के विषय में लिखा है कि स्पष्ट अपराधी होने पर भी लज्जित नहीं होता है तथा मिथ्याचरण में प्रवीण होता हैं।[5] धनंजय ने धृष्ट नायक के विषय में लिखते हुए कहा है कि वो विपरीत आचरण करने में अत्यधिक कुशल होता है।[6]

---

१. एषु त्वनेकमहिलासु समरागे दक्षिणः कथितः।
(साहित्यदर्पण-३।पृष्ठ १४३)

२. दक्षिणोऽस्यां सहृदयः — — —।
(दशरूपक-२/पृ० १७७)

३. — — — शठो यमेकत्र बद्धभावो च।
दर्शितः बहिरनुरागो विप्रियमन्यत्र गूढमाचरति॥
(साहित्यदर्पण-३/३७२)

४. गूढ़ः विप्रिय कृच्छठः।
(दशरूपक-२/पृ० १७७)

५. कृतागाऽपि निःशङ्कस्तर्जितोऽपि न लज्जितः।
दृष्टदोषोऽपि मिथ्यावान्कथितो धृष्टः नायकः॥
(साहित्यदर्पण-३।३६)

६. व्यक्ताङ्ग वैकृतो धृष्टः। (हिन्दी दशरूपक-५।पृ०१७८)

नायिका भेद

सर्वप्रथम नायिका के ३ मुख्य भेद किए गए हैं। स्वकीया, परकीया और पुनर्भू। कुछ विद्वानों के मत से पुनर्भू नायिका को सामान्या नायिका कहना चाहिए। विश्वनाथ ने भी नायिका के मुख्य तीन भेद किए हैं।[१] धनंजय ने भी नायिका के मुख्य तीन ही भेद माने हैं।[२]

स्वकीया

विश्वनाथ ने स्वकीया के लिए स्वीया शब्द का प्रयोग किया है। यह नायिका नायक की विवाहिता और पतिधर्मपरायणा स्त्री होती है, मुग्धा, मध्या और प्रगल्भा ये इसके तीन भेद होते हैं।[४]

परकीया

परकीया नायिका २ प्रकार की हो सकती है, या तो यह किसी अन्य व्यक्ति की विवाहिता हो सकती है अथवा कन्या हो सकती है।[१] परकीया के विषय में धनंजय का भी यही मत है।[५]

सामान्या

सामान्या नायिका के विषय में साहित्य-दर्पणकार ने बहुत कुछ लिखा है।

---

१. अथ नायिका त्रिभेदा स्वान्या साधारणस्त्रीति।
नायकसामान्यगुणैर्भवति यथासम्भवैर्युक्ता॥

(साहित्यदर्पण- ३।५५)

२. स्वान्या साधारणस्त्रीति तद्गुणा नायिका त्रिधा।

(दशरूपक- २।पृ० १८८)

३. विनयार्जवादियुक्ता गृहकर्मपरा पतिव्रता स्वीया।
साऽपि कथिता त्रिभेदा मुग्धा, मध्या, प्रगल्भेति॥

(साहित्यदर्पण- ३।५७)

तथा रौद्ररसप्रायः प्रख्यातविषयान्वितः॥

(विष्णुधर्मोत्तर पुराण-१७।२७)

४. परकीया द्विधा प्रोक्ता परोढाकन्यका तथा।
यात्रादि-निरताऽन्योढा कुलटा गलितत्रपा॥

साहित्य दर्पण—३।६६

५. अन्यस्त्री कन्यकोढा च नान्योढाऽङ्गिरसे क्वचित्। दशरूपक—२।२०

ये सबकी होने के कारण सामान्या कहलाती है। इस प्रकार की नायिकाओं में प्रेम का सर्वथा अभाव रहता है। पुरुषों के गुणों से इन्हें कोई प्रयोजन नहीं रहता है। ये केवल पुरुषों के धन से प्रेम करती हैं। दशरूपककार ने लिखा है कि ये धन सम्पत्ति को देखते ही प्रेम प्रदर्शित करने लगती हैं।[1]

विष्णुधर्मोत्तर नायिका-भेद

विष्णुधर्मोत्तर पुराण में नायिकाओं के आठ भेद बतलाए गए हैं। नायक द्वारा किए गए अपराध के कारण मान धारण की हुई नायिका को वासकसज्जा नायिका कहते हैं। नायक के यथा समय न आने पर व्याकुल नायिका को विरहोत्कण्ठिता कहते हैं। जिस नायिका का नायक उसके सब प्रकार से अनुकूल हो उसे स्वाधीनभर्तृका कहते हैं। नायक और नायिका का प्रेम कलह हो जाने पर मौन धारण की हुई नायिका को कलहान्तरिता कहते हैं। नायक के अन्य स्त्री सेप्रच्छन्न प्रेम पर मान धारण करने वाली नायिका को खण्डिता कहते हैं। संकेतस्थल पर नायक के न पहुँचने पर ठगी गई नायिका को विप्रलब्धा कहते हैं। पति के प्रवास पर चले जाने पर नायिका को प्रोषितभर्तृका कहते हैं। नायक को प्राप्त करने वाली नायिका को प्रगोपिता कहते हैं। अन्य समालोचकों ने इसे अभिसारिका कहा है।[2]

---

१. धीरा कलाप्रगल्भा स्याद् वेश्या सामान्यनायिका ।।
निर्गुणानपि न द्वेष्टि न रंजयति गुणिष्वपि।
वित्तमात्रं समालोक्य सा रागं दर्शयेद्बहिः ।।

दशरूपक—२।६७-६८

२. अथ परं प्रवक्ष्यामि नायिकाष्टक-लक्षणम्।
निरतपराधात्स्वगृहे वाससज्जा तु नायिका ।।
विरहोत्कण्ठिता सैव त्वनागतनायकः।
स्वाधीनभर्तृका प्रोक्ता सा स्यात्स्वाधीनभर्तृका ।।
कलहान्तरिता प्रोक्ता कलहाहृतनायिका।
खण्डिता या च नरवैर्युतमेति प्रगोपितम् ।।
विप्रलब्धा तु सा ज्ञेया संकेते कान्तवर्जिता।
प्रवासगतकान्ता तु तथा प्रोषितभर्तृका ।।

विष्णुधर्मोत्तरपुराण—१७।५६ से ५९ तक

रूपक-निरूपण

रूपकों में सर्वप्रथम नाटक है रूपक-निरूपण में नाटक को आधार मानकर उसी के लक्षण पहले निर्धारित किए जाते हैं।

अग्निपुराण के अनुसार दृश्य काव्य के २७ भेद हैं। यथा- नाटक, प्रकरण डिम, ईहामृग, समवकार, प्रहसन, व्यायोग, भाण, वीथी, अङ्क, त्रोटक, नाटिका, सट्टक, शिल्पक, कर्ण, दुर्मल्लिका, प्रस्थान, भाणिका, भाणी, गोष्ठी, हल्लीशक, श्रीगदित, नाट्यरासक, उल्लाप्य एवं प्रेङ्क्षण[1]। इनमें से अनेक के केवल नाम और परिभाषा मात्र प्राप्य है, कोई रचना नहीं। विष्णुधर्मोत्तर पुराण में रूपक के बारह प्रकारों का उल्लेख है तथा उनके लक्षण वर्णित किए गए हैं।

अन्यत्र नाट्यदर्पण में रूपक के बारह भेद प्रदर्शित किए हैं। यथा—नाटक, प्रकरण, नाटिका, प्रकरणी, व्यायोग, समवकार, भाण, प्रहसन, डिम, अङ्क, ईहामृग और वीथी।[2] इसमें प्रकरणी नाटिका को रूपकों में सम्मिलित किया गया है। विष्णुधर्मोत्तरपुराण में एकाहिक नामक अतिरिक्त भेद का वर्णन है।

---

१. नाटकं सप्रकरणं डिम ईहामृगोऽपि वा।
ज्ञेयं समवकारश्च भवेत्प्रहसनं तथा॥
व्यायोग-भाणवीथ्यङ्क-त्रोटकान्यथ नाटिका।
सट्टकं शिल्पकः कर्ण एको दुर्मल्लिका तथा॥
प्रस्थान भाणिका भाणी, गोष्ठी हल्लीशकानि च।
काव्यं श्रीगदितं नाट्यरासकं रासकं तथा॥
उल्लाप्यकं प्रेङ्क्षणं च सप्तविंशतिर्धैव तत्॥

अग्निपुराण—३३८।१ से ४ श्लोक

२. नाटकं प्रकरणं च नाटिका प्रकरण्यथ।
व्यायोगः समवकारो, भाणः प्रहसनं डिमः॥
अङ्क ईहामृगो, वीथी, चत्वारः सर्ववृत्तयः।
त्रिवृत्तयः परे त्वष्टौ कैशिकीपरिवर्जनात्॥

नाट्यदर्पण प्रथम विवेक सूत्र ३

उसमें भाण का स्थान नहीं दिया है। आचार्य विश्वनाथ ने रूपक के १० भेद और उपरूपक के १८ भेद गिनाए हैं। ये भेद-प्रभेद अग्निपुराण के समान हैं।[1] इसमें विलासिका नामक भेद अग्निपुराण से अधिक गिनाया गया है। परन्तु इनके स्वतन्त्र लक्षण के विषय में यह भी मौन है। उनका कहना है कि उपर्युक्त सभी प्रकारों का सामान्य स्वरूप वही है जो नाटक का होता है। नाट्यरूपक के दश भेद अधिक लोकप्रचलित है। भरतमुनि ने रूपकों के दश प्रकारों क उल्लेख किया है। उनके अनुसार नाटक, प्रकरण, अङ्क, व्यायोग, भाणा, समवकार, वीथी, प्रहसन, डिम तथा ईहामृग ये नाट्यरूपक है।[2] आचार्य धनंजय ने भी रसाश्रित रूपक के तो दश प्रकार माने है[3] उनके अनुसार डोम्बी, श्रीगदित भाण, भाणी प्रस्थान रासक और काव्य नृत्य के भेद हैं।[4]

वास्तव में रूपक और उपरूपक का भेद काल्पनिक नहीं अपितु वास्तविक है। रूपक तो नाट्य हैं और उपरूपक नृत्य। नाट्यरसाश्रय हैं और नृत्यभावाश्रय।

नाटक

विष्णुधर्मोत्तर पुराण के अनुसार राजा के अतिरिक्त देवता भी नाटक का नायक होता है। मार्कण्डेय ऋषि ने कहा है कि देवताओं के चरित का वर्णन

---

१. नाटकमथ प्रकरणं भाणव्यायोगसमवकारडिमाः।
ईहामृगाङ्कवीथ्यः प्रहसनमिति रूपकाणि दश॥
साहित्यदर्पण—६।३ श्लोक

२. नाटकं सप्रकरणमङ्को, व्यायोग एव च।
भाणः समवकारश्च, वीथी प्रहसनं डिमः॥
ईहामृगश्च विज्ञेयो दशमो नाट्यलक्षणे।
नाट्यशास्त्र—२०।२ एवं ३ का पूर्वार्द्ध

३. रूपकं तत्समारोपात् दशधैव रसाश्रयम्।
नाटकं सप्रकरणं भाणः प्रहसनं डिमः॥
व्यायोगसमवकारौ, वीथ्यङ्केहामृगा इति।
दशरूपक—१।७ का उत्तरार्द्ध एवं ८

४. डोम्बी श्रीगदितं भाणो भाणीप्रस्थनरासकाः।
काव्यं च सप्त नृत्यस्य भेदाः स्युस्तेऽपि भाणवत्॥
दशरूपक—१।पृष्ठ ६

करने वाला काव्य नाटक कहलाता है।[1] देवताओं के अतिरिक्त उच्चकुल के व्यक्ति को भी नायक पद पर प्रतिष्ठित किया जा सकता है। नायक के साथ एक प्रतिनायक का भी समावेश होना चाहिए। तथापि दोनों के कार्य संयुक्त दिखलाए जायँ नायक के कार्यों की प्रधानता प्रदर्शित होनी चाहिए।

अग्निपुराण में कहा गया है कि नाटक धर्म अर्थ और काम की प्राप्ति का साधनभूत है।[2]

प्रकरण

विष्णुधर्मोत्तर पुराण में लिखा है कि प्रकरण की कथा-वस्तु उत्पाद्य तथा कवि की श्रेष्ट कल्पना से प्रसूत होनी चाहिए। प्रकरण का नायक ब्राह्मण या वैश्य हो सकता है।[3] नाट्य दर्पणकार ने प्रकरण की परिभाषा देते हुए लिखा है कि प्रकरण का नायक बनिया, ब्राह्मण या सचिव हो तथा वह मध्यम गुणों से युक्त हो।[4]

आचार्य भरत ने भी प्रकरण के नायक के विषय में लिखा है कि वह विप्र, बनिया, सचिव, पुरोहित या सार्थवाह में से हो होना चाहिए। इनके विविध चरित्रों से युक्त काव्य को ही प्रकरण कहते हैं।[5] प्रकरण में कंचुकी के स्थान पर एक अनुचर, विदूषक के स्थान पर विट जो कला निपुण एवं उपजीवी हो, अमात्य के स्थान पर श्रेष्ठी एवं उसके सहायक होने चाहिए।

---

१. एक नायक-संयुक्तं नायक-प्रतिनातकैः।
संयुक्तमथवा कार्यं काव्ये वै तत्र नायकः॥

विष्णुधर्मोत्तर पुराण—१७।८

२. त्रिवर्णसाधनं नाट्यमित्याहुः करणं च यत्।

अग्निपुराण—३३८।५

३. कृतं प्रकरणं तद्वत्स्वयमुत्पाद्य वस्तुना।
ब्राह्मणो नायकस्तत्र वणिक्च नृपसत्तम॥

(विष्णुधर्मोत्तर पुराण—१७।१९ का उत्तरार्द्ध एवं २० का पूर्वार्द्ध)

४. प्रकरणं वणिग् विप्रसचिवस्वाम्यसङ्करात्।
मन्दगोत्राङ्गनं दिव्यानाश्रितमध्यचेष्टितम्॥

(नाट्यदर्पण—२.सूत्र ११७)

५. विप्रवणिक् सचिवानां पुरोहितामात्य सार्थवाहानाम्।
चरितं यदनेकविधं तज्ज्ञेयं प्रकरणं नाम॥

(नाट्य शास्त्र—२०।५२)

प्रकरण की नायिका गणिका अथवा अद्विज वर्णा की स्त्री होनी चाहिए, अन्य प्रसंगों में अभिजात वर्ग की स्त्री भी नायिका हो सकती है। यदि नायिका वेश्या हो तो उसे नायक की पत्नी से कभी भी नहीं मिलाना चाहिए।

डिम

डिम का कथानक ऐतिहासिक अथवा लोक-प्रसिद्ध होता है, नाटक के नायक के समान इसका नायक भी उदात्त होता है। इसमें चार अंक होते हैं और छः उत्तेजक रसों को प्रकट किया जाता है।

डिम में प्रवेश अथवा विष्कम्भक का स्थान नहीं है। डिम का पूरा कथानक सरस होता है और इसके सभी अंग सुघटित होते हैं। इसमें विमर्श सन्धि को छोड़कर सभी सन्धियाँ होती हैं।

ईहामृग

ईहामृग का नायक देवता होना चाहिए जो किसी दिव्य नारी को प्राप्त करने के लिए संघर्ष कर रहा हो। अलभ्य मृग के की ईहा करने के कारण ही इसका नाम ईहामृग है।

विष्णुधर्मोत्तर पुराण के अनुसार इसमें गन्धर्व नायक से युक्त, शृंगारबहुल एवं बहुत अंको से समन्वित रससिक्त रूपक को ईहामृग कहते हैं।[1]

समवकार एवं ईहामृग दोनों का नायक देवता होता है। ईहामृग का कथानक समवकार की अपेक्षा अधिक सुव्यवस्थित होता है। ईहामृग अत्यन्त यथार्थपरक नाट्यकृति है। इसमें उद्धत स्वभाव के कई पात्र होते हैं। ईहामृग किसी नारी से सम्बन्धित क्रोध, क्षोभ, प्रत्यावर्तन एवं कोपजनित कटु वचनों से युक्त होता है। धनंजय के अनुसार उसमें चार अङ्कों और तीन सन्धियों से युक्त मिश्र कथावस्तु होती है। इसमें नायक और प्रतिनायक वैकल्पिक रूप से प्रख्यात होते हैं। इसमें दिव्य स्त्री के आपहरण के रूप में कुछ शृंगाराभास

१—ईहामृगोऽथ बह्वंकस्तथा गन्धर्वनायकः।
शृंगारबहुलः कार्योऽतृप्तयोनिरसाश्रयः॥

(विष्णुधर्मोत्तर पुराण—१७/३५)

होता है।[1] इसमें नायक और प्रतिनायक को आवेश की सर्वोत्तम स्थिति में लाकर भी किसी बहाने युद्ध नहीं होने देना चाहिए।

समवकार

समवकार का उद्देश्य किसी देवता से सम्बन्धित घटना चक्र का प्रदर्शन है। इसमें देवता को नायक बनाकर उसे लक्ष्यसिद्धि के लिए प्रयत्नशील दिखाया जाता है। विश्वनाथ के अनुसार समवकार में नायक देव अथवा असुर होता है तथा कथावस्तु पुराण प्रसिद्ध होती है। इसमें विमर्श सन्धि को छोड़कर अन्य सन्धियाँ होती हैं।[2] भक्त लोगों को उपदेश देने के लिए समवकार होता है। इसमें देवताओं के सम्पूर्ण जीवन का प्रदर्शन नहीं किया जाता है अपितु उन्हीं घटनाओं का प्रदर्शन होता है, जो मनोरंजक एवं शिक्षाप्रद होती हैं।

विष्णुधर्मोत्तर पुराण के अनुसार समवकार दिव्य नायक से युक्त और कपटपूर्ण घटनाओं वाला होता है। इसका रस श्रृंगार होता है। विष्णुधर्मोत्तर पुराण और दशरूपक की समवकार की भाषा में बहुत साम्य हैं, इसके अनुसार समवकार में देव-दानव इत्यादि १२ नायक होने चाहिए तथा विविध श्रृंगार और तीन कपट होना चाहिए।[3] धनंजन के अनुसार समवकार के तीन अंकों

---

१. मिश्रमीहामृगे वृत्तं चतुरङ्कत्रिसन्धिमत् ।
नरदिव्यावनियमान्नायकप्रयिनायकौ ॥
ख्यातौ धीरोद्धतावन्त्यो विपर्यासादयुक्तकृत् ।
दिव्यस्त्रिमनिच्छन्तीमपहारादिनेच्छतः ॥
श्रृंगाराभासमप्यस्य किंचिकिंचित्प्रदर्शयेत् ।
(दशरूपक—३ प्रकाश/७२ का उत्तरार्द्ध ७३ और ७४)

२. वृत्तं समवकारे तु ख्यातं देवासुराश्रयम् ।
सन्ध्यो निर्विमशास्तु त्रयोङ्कास्तत्र चादिमे ॥
सन्धी द्वावन्त्योस्तद्वदेक एको भवेत्पुनः ।
नायका द्वादशोदात्ताः प्रख्याता देवमानवाः ॥
(साहित्य-दर्पण—६/२३५ एवं २३५)

३. प्रोक्ता समवकाराख्ये, त्रिदश सुरनायका ।
त्रिश्रृंगारस्त्रिकपटस्तथा गन्धर्वनायकः ॥
(विष्णुजर्मोत्तर पुराण—१७/२४०)

में क्रमशः तीन प्रकार के कपट, तीन प्रकार के शृंगार) और तीन प्रकार के विद्रव होते हैं। प्रथम अंक में दो सन्धियाँ २४ घड़ी के कार्य वाली होती हैं। नगर का घेरा डालना, युद्ध, तूफान, अग्नि आदि के कारण विद्रव होता है। तीन प्रकार के शृंगार धर्म, अर्थ और काम से समन्वित होते हैं। समवकार में बिन्दु और प्रवेशक नहीं होते हैं।[1]

समवकार के त्रिशृंगार होने का अभिप्राय धर्मशृंगार, अर्थशृंगार और कामशृंगार है। धर्मशृंगार शास्त्रानुकूल शृंगार समझा जाता है। अर्थ-शृंगार से तात्पर्य अर्थलाभात्मक शृंगार है। काम शृंगार का अर्थ प्रहसनात्मक शृंगार है। इसमें स्वभाविक, कृत्रिम और दैवत तीन प्रकार का कपट होता है। समवकार का नायक या तो शिव की भाँति उदात्त हो, ब्रह्मा की भाँति प्रशान्त नायक हो अथवा नरसिंह की भाँति उद्धत नायक हो। इसके प्रत्येक अङ्क में साधन के रूप में आपत्ति काल में प्रत्यावर्तन एवं लक्ष्य के रूप में प्रेम प्रदर्शित किया जाता है।

प्रहसन

प्रहसन हास्यपरक एक अंक का होता है। इसमें वेश्या, विट इत्यादि का वर्णन होना चाहिए। अग्निपुराण में रीतिनिरूपण के अध्याय में प्रहसन की परिभाषा देते हुए लिखा है कि इसमें तपस्वी आदि के लिए हास्यपरक वचन प्रयुक्त किए जाते हैं।[2]

विश्वनाथ के अनुसार प्रहसन वह रूपक है, जिसमें संन्धि, और सन्ध्यङ्ग और लास्याङ्ग की रचना अंक की भाँति हुआ करती है। इसका इतिवृत्त अधम प्रकृति के नायक का कल्पित इतिवृत्त होता है।

विष्णुधर्मोत्तर पुराण के अनुसार एक अङ्क का हास्य रस प्रधान, उदात्त

---

१. अङ्कैस्त्रिभिस्त्रिकपटस्त्रिशृंगारस्त्रिविद्रवः।
द्विसन्धिरङ्कप्रथमः कार्यो द्वादशनालिकः॥
नगरोपरोधयुद्धे वाताग्न्यादिषु विद्रवाः।
धर्मार्थकामैः शृंगारो नाम बिन्दुप्रवेशकौ॥
(दसरूपक—३/६५ एवं ६७)

२. तापसादेः प्रहसनं परिहासपरं वचः।
(अग्निपुराण—३४०/१० का उत्तरार्द्ध)

नामक से युक्त तथा वेश्या और विट से युक्त पात्रों वाला रूपक प्रहसन है।[1]

व्यायोग

व्यायोग एकाङ्की रूपक है। इसका नायक उदात्त न होकर लोकप्रसिद्ध ऐतिहासिक पुरुष होता है। इसमें नारी-पात्रों की संख्या स्वल्प होती है और बारह पात्र होते हैं। व्यायोग का नायक राजा देवता अथवा ऋषि नहीं होना चाहिए। व्यायोग के विषय में धनंजय का कथन है कि उसकी कथा वस्तु प्रख्यात होती है, जिसका आश्रय प्रख्यात और उद्धत होते हैं। उसमें गर्भ और विमर्श सन्धियाँ नहीं होती हैं। रसयोजना डिम के समान होती है।[2]

व्यायोग में युद्ध स्त्री के कारण नहीं होता है। नाट्यदर्पणकार के अनुसार व्यायोग की घटना एक दिन की होती है तथा इसमें एक अंक होता है, तथा गर्भ और विमर्श सन्धियों का अभाव होता है इसमें स्त्री पात्र स्वल्प होते हैं तथा दीप्त रसों का प्रयोग होता है। इसकी कथावस्तु ख्यात होती है। तथा अदिव्य भूपति स्वामी नायक होता है, इसमें नायिका का अभाव होता है।

विष्णुधर्मोत्तरपुराण के अनुसार जिस रूपक में एक दिन की घटना का का वर्णन हो तथा जो हास्यरसों से युक्त हो तथा जिसका एक ही नायक हो उसे व्यायोग कहते हैं।

वीथी

वीथी के विषय में विष्णुधर्मोत्तरपुराण में लिखा है कि इसमें १३ अंग होने चाहिए तथा नायक का अभाव वर्णित होना चाहिए।[3] वीथी का अर्थ है मार्ग या पंक्ति। इसमें अङ्कों की पंक्ति वीथी सी स्थापित की जाती है। धनंजय ने वीथी को सन्धि, सन्ध्यङ्ग और अंक की दृष्टि से भाण के समान बतलाया

१—एकांको हास्यबहुलस्तथैवोदात्तनायकः।
कार्यः प्रहसनाख्यस्तु वेश्याविटसमन्वितः॥
(विष्णुधर्मोत्तर पुराण—१७/२८)

२, ख्यातेतिवृत्तो व्यायोगः ख्यातोद्धतनराश्रयः।
हीनो गर्भविमर्शाभ्यां दीप्ता स्युर्डिमवद्रसाः॥
दशरूपक—३/६० का उत्तरार्द्ध एवं ६१ का पूर्वार्द्ध

३. वीथी त्रयोदशाङ्गी स्यात्तथा नायकवर्जिता।
विष्णुधर्मोत्तरपुराण—२६ का उत्तरार्द्ध

गया है। इसमें शृंगार रस सूच्य होता है। अर्थात् विभाव की असमर्थता से निखरता नहीं है।[1]

वीथी में एक अथवा दो पात्र होते हैं। यह समाज के उच्च, मध्य अथवा निम्नवर्गीय हो सकते हैं। इसमें कोई नायक नहीं होता है। वीथी के तेरह अंग हैं उद्‌घात्यक, अवलगित, प्रपंच, त्रिगत, छल, वाक्केली, अधिबल, गण्ड, अवस्यन्दित, नालिका, असत्प्रलाप, व्याहार और मृदव।[2] अग्निपुराण में भी वीथी के तेरह अंग गिनाए गये हैं परन्तु नामकरण कुछ भिन्न है। उनके अनुसार उद्‌घात्यक, लपित, असत्प्रलाप, वाक्श्रेणी, नाटिका, विपण, व्याहार, त्रिगत, छल, अवस्यन्दित, गण्ड और मृदव।

छलन

अग्निपुराण में इसे छल कहते हैं। विश्वनाथ के अनुसार देखने में प्रिय किन्तु वास्तव में अप्रिय वाक्यों से विलुब्ध करने को छलन कहते हैं।[3]

वाक्केली

वाक्यों को साकांक्ष लौटा देना या दो तीन बार कह देना वाक्केली है। अग्निपुराण में इस को वाक्श्रेणी कहा गया है। भरत ने वाक्केली के बारे में बताया है कि जहाँ पर दो प्रश्नों के एक ही उत्तर होते हैं, उन्हें वाक्केली कहते हैं। इस प्रकार यह प्रहेलिका के समान है।

अङ्क

अग्निपुराण में जिसे अङ्क कहा गया है, उसी को विष्णुधर्मोत्तर पुराण में एकाङ्क कहा गया है। उसका लक्षण है कि एकांङ्की युद्ध की बहुलता से

---

१. वीथी तु कैशिकीवृत्तौ सन्ध्यङ्गाङ्कैस्तु भाणवत्।
रसः सूच्यस्तु शृंगारः स्पृशेदपि रसान्तरम्॥
दशरूपक—३/६८ का उत्तरार्द्ध एवं ६९ का पूर्वार्द्ध

२. उद्‌घात्यकावलगिते प्रपंचत्रिगते छलम्।
वाक्केल्यधिबले गण्डमवस्यन्दितनालिके॥
असत्प्रलापव्याहारमृदवानि त्रयोदश।
दशरूपक—३/१२ एवं १३ का पूर्वार्द्ध

३. प्रियाभिरप्रियैर्वाक्यै विलोभ्यलच्छनच्छलम्।
साहित्यदर्पण—६/२५८ का उत्तरार्द्ध

परिपूर्ण होना चाहिए और आंशिक रूप से इसमें अन्य वस्तुओं का भी कथन होना चाहिए। अङ्क आकाश कथन से भी संयुक्त होता है, तथा एक पात्र से युक्त होता है।[1] यद्यपि एक की अङ्क होने के कारण इसका नाम अङ्क उचित है परन्तु नाटक के विभिन्न खण्ड या भाग भी अङ्क कहलाते हैं। अतएव इसको स्पष्टता के लिए उत्सृष्टिकाङ्क कहना समीचीन है। भरतमुनि ने उत्सृष्टिकाङ्क की परिभाषा देते हुए लिखा है कि जिसमें नाना प्रकार को चेष्टा वर्णित हो तथा जो सात्त्वती आरभटी एवं कैशिकी वृत्ति से हीन हो तथा जिसमें अभ्युदय इत्यादि का वर्णन हो उसे उत्सृष्टिकाङ्क कहते हैं।[2]

विश्वनाथ के अनुसार अङ्क या उत्सृष्टिकाङ्क वह रूपक भेद है जो एक अङ्क में ही रचा जाता है। इसमें नायक को साधारण पुरुष के रूप में चित्रित किया जाता है। इसमें करुण रस अङ्गी हुआ करता है, क्योंकि इसमें नारीविलाप का वर्णन प्रचुर मात्रा में हुआ करता है। इसका इतिवृत्ति प्रख्यात होता है और कवि की कल्पना से परिष्कृत होता है।[3] रामचन्द्र का कथन है कि उत्सृष्टिकाङ्क में एक नायक होता है, कथावस्तु प्रख्यात होती है युद्ध इत्यादि का वर्णन होता है। इसमें वाग्ययुद्ध की प्रधानता होती है, कारुणिक प्रसंगों की बहुलता होती है तथा भाण के समान वृत्तियों का प्रयोग एवं सन्ध्यङ्ग होते हैं।[4]

---

१. एकाङ्को युद्धबहुलस्वात्मशंसापरस्तथा ।
आकाशकथनैर्युक्तस्तवेकपात्रकृतक्रियः ॥

विष्णुधर्मोत्तरपुराण—१७/२३

२. नानाव्याकुलचेष्टः सात्वत्यारभटि-कैशिकीहीनः ।
कर्तव्योऽभ्युदयान्तस्तज्ज्ञैरुत्सृष्टिकाङ्कस्तु ॥ नाट्यशास्त्र—२०/१००

३. उत्सृष्टिकाङ्क एकाङ्कः नेतारः प्राकृता नराः ।
रसोऽत्र करुणः स्थायी बहुस्त्रीपरिदेवितम् ॥
प्रख्यातमितिवृत्तं च कविर्बुद्धया प्रपंचयेत् ।

साहित्यदर्पण—६/२५० का उत्तरार्द्ध एवं २५१

४. उत्सृष्टिकाङ्क पंस्वामी ख्यातयुद्धोत्थवृत्तवान् ।
भाणोक्तवृत्तिसन्ध्यङ् वाग्युद्धः करुणाङ्गिक ॥

नाट्यदर्पण—२/सूत्र १३६

नाटिका

विष्णुधर्मोत्तर पुराण में नाटिका को रूपकों में स्थान दिया गया है। विष्णुधर्मोत्तरपुराण में लिखा है कि यह श्रृंगार प्रधान कथावस्तु से युक्त होती है। यह चार अङ्कों की होती है तथा प्रकरण के समान इसकी कथावस्तु स्वयं उत्पाद्य या काल्पनिक होती है।[1] धनंजय कहते हैं कि विभिन्न प्रकार के रूपकों के परस्पर संकर से अनेक संकीर्ण कोटि के रूपक बनते हैं। उन सबमें विशेष महत्त्वपूर्ण नाटिका है। यह नाटक और प्रकरण के संकर से बनती है। नाटिका में कथावस्तु प्रकरण से ली जाती है और नायक नाटक से। इसमें कैशिकी वृत्ति की प्रधानता होती है तथा चार अंक होते हैं।[2] विश्वनाथ भी नाटिका को नाटक और प्रकरण का संकर मानते हुए लिखते हैं कि इसके इतिवृत्ति का कल्पित होना आवश्यक है। नाटिका स्त्री-प्रधान तथा नायक राजकुलोत्पन्न एवं धीर ललित गुणों से युक्त होना चाहिए।[3]

प्रकरणी

विष्णुधर्मोत्तरपुराण में प्रकरणी को पृथक् रूप से महत्त्वपूर्ण स्थान प्रदान किया गया है और उसको नाटिका के समान ही बतलाया गया है। प्रकरणी में चार अङ्क होना चाहिए। इसकी कथावस्तु ऐतिहासिक अथवा स्वयं उत्पाद्य हो सकती है। इसमें भारती वृत्ति की प्रधानता होनी चाहिए। करुण रस भी

---

१. एवंविधा सश्रृंगारा चतुरङ्का तु नाटिका।
कृतं प्रकरण तद्वत् स्वयमुत्पाद्यवस्तुना॥

विष्णुधर्मोत्तरपुराण— १७/१६

२. लक्ष्यते नाटिकाप्यत्र सङ्कीर्णान्यनिवृत्तये।
तत्र वस्तु प्रकरणान्नाटकान्नायको नृपः॥
कैशिक्यङ्गैश्चतुर्भिश्च युक्ताङ्कैरिव नाटिका।

दशरूपक—३/४३ एवं ४८ का उत्तरार्द्ध

३. नाटिका क्लृप्तवृत्ता स्यात् स्त्रीप्राया चतुरङ्किका।
प्रख्यातो धीरललितस्तत्र स्यान्नायको नृपः॥

साहित्यदर्पण—६/२६९

यत्र तत्र प्रदर्शित होना चाहिए।[1] भरतमुनि नाटिका और प्रकरणिका को एक ही मानते हैं।

ऐकाहिक

विष्णुधर्मोत्तरपुराण में ऐकाहिक नामक तथा एक अन्य नाट्य रूपक का भेद दिया है। इसको भरतमुनि या विश्वनाथ आदि ने कोई महत्त्व नहीं दिया है। ऐकाहिक के विषय में विष्णुधर्मोत्तर पुराण में लिखा कि इतिहास के वर्णन के अनुकूल कथानक को ऐकाहिक कहते हैं।[2]

विष्णुधर्मोत्तर पुराण में भाण को छोड़कर उपर्युक्त १२ नाट्य रूपक माने हैं। अग्निपुराण में २७ प्रकार के रूपक माने गये है। उहोंने उपरूपक जैसा कोई भेद नहीं किया है। अन्य आचार्यों के मत को ध्यान में रखकर उन्हें उपरूपक ही मानना चाहिये।

नाट्यरूपकों एवं उपरूपकों के प्रकार को देखने से प्रतीत होता है कि जिन प्रमुख दश नाट्य रूपकों को गिनाया गया है, उनका तो अपना अलग वैशिष्ट्य है किन्तु उपरूपक प्रायः समान ही हैं अधिकांश एक ही अंक के हैं। अतः भरत का कहना है कि सभी उपरुपक नाट्य के समान लगता है। अग्नि पुराण में सभी को नाटक कहा गया है।

प्रवृत्ति

विष्णुधर्मोत्तर पुराण में नाटक के पात्रों को परस्पर किस प्रकार सम्बोधन करना चाहिए, इस पर सम्यक् प्रकाश डाला है। मार्कण्डेय ऋषि ने वज्र से कहा है कि अब मैं तुम्हें यह बाताऊगा कि नाटक में कौन किससे क्या कहे। परिजनों तथा प्रजाओं के द्वारा राजा को देव कहकर सम्बोधन करना चाहिए, विप्र राजा को राजा ही कहे और ऋषि लोग राजा को नाम से पुकारें। वृद्ध लोग राजा से पुत्र कहकर बात करें तथा मित्र और समान लोगों को वयस्य कहकर सम्बोधन

१. एवं प्रकरणी कार्या चतुरङ्गिकापि सा भवेत् ॥
इतिसाहोनुबन्धो वा स्वयमुत्पाद्य वा कृतः।
भारतीयकरुणप्रायो निवृतं समनन्तरम् ॥
विष्णुधर्मोत्तर पुराण—१७/२० का उत्तरार्द्ध एवं २१

२. इतिहासानुसारेण प्रागैकाहिकः स्मृता।
विष्णुधर्मोत्तरपुराण—७२/२२ का उत्तरार्द्ध

करना चाहिए। विदूषक भी राजा को वयस्य कहकर पुकारे तथा सूत और रथी दोनों को राजा का आयुष्मान् कहकर पुकारना चाहिए।[1]

राजा ऋषियों को, गुरुओं को तथा देवताओं आदि को भगवान् कहकर सम्बोधित करे तथा शिष्य को पुत्र वत्स तथा नाम से सम्बोधित करें। पत्नी को अपने राजा पति से आर्यपुत्र कहना चाहिये। राजा अपनी पत्नी को नाम से पुकार सकता है। महिषी को देवी कहकर सम्बोधन करना चाहिए। पिता को तात तथा माँको माता कहकर सम्बोधित करें। इसी प्रकार राजकुमार को सब प्रेम से युवराज कहकर सम्बोधित करें। राजकुमार को भंतृदार भी कहा जाता है। सखियां आपस में बातचीत करते समय परस्पर हला कहकर एक-दूसरे को पुकारें।[2]

विश्वनाथ ने पात्रों के षष्ठ परिच्छेद में सम्बोधन के प्रकार पर प्रकाश डाला है। यह सम्बोधन विष्णुधर्मोत्तर पुराण के अनुसार है। सबका सारांश देते हुए अन्त में उन्होंने लिखा है कि वस्तुतः बात यह है कि किसी के सम्बोधन में ऐसे ही पद का प्रयोग किया जाता है जो कि उसके कर्म, कौशल

---

१. अतः परं प्रवक्ष्यामि येन वाच्यस्तु यो यथा।
देवेति राजा बक्तव्यो भृत्यैः प्रकृतिथिस्तथा॥
राजेतिविप्रैर्वक्तव्यो ऋषिभिर्नामिगोत्रतः।
अपत्यप्रत्ययाद्वैर्वयस्येति समो जनः॥
विदूषकोऽपि वक्तव्यो वयस्य इति नायकैः।
आयुष्मानिति सूतेन रथी वाच्यस्तथा भवेत्॥
विष्णुधर्मोत्तर पुराण—१७/३९, ४०, ४१

२. भगवन्निति वक्तव्या ऋषयो गुरवः सुराः।
पुत्रवत्सेति शिष्यस्य तथा वा नाम गोत्रतः॥
आर्यपुत्रेत्ति वक्तव्या स्त्रिया भर्त्ता नराधिपः।
नाम्ना भार्या तु वक्तव्या, राज्ञी देवीति नायिकाः।
पिता तातस्तथा वाच्यो मातुरश्चैवार्यकः पिता।
युवराजा कुमारस्यान्मान्यो भावः समीरितः॥
मान्यमानस्तथा नामो, भर्तृदारः कुमारकः।
हलेति तु समानाक्षी वक्तव्या समया तथा॥
विष्णुधर्मोत्तर पुराण -- १७/४२, ४३, ४४ एवं ४५

उसकी विद्या और उसकी जाति के अनुकूल हो ।[1]

के आवश्यक तत्व

पूर्वरंग में विधिपूर्वक नान्दी आदि ३२ अंगों का निर्वाह करना चाहिए। अग्निपुराण के अनुसार पूर्वरंग में देवताओं को नमस्कार गुरुजनों की प्रशंसा गो, ब्राह्मण और राजा के आशीष का गायन किया जाता है।[2] नान्दी के पश्चात् सूत्रधार रंग पर आता है। और पाँच वातों का निर्देश करता है रूपककार की गुरुपरम्रा, वंशोल्लेख तथा काव्य-शक्ति तथा रूपक के इतिवृत्ति की पूर्व परम्परा और प्रयोजन। नाटक में सर्वप्रथम प्रस्तावना होती है। इसमें सूत्रधार के साथ नटी, विदूषक अथवा पारिपार्श्वक स्वकार्य सिद्धयर्थ चमत्कार पूर्ण वाक्यों से परस्पर चर्चा करते हैं। नाटक के उस भाग को आमुख कहते है। विद्वानों ने इसे प्रस्तावना भी कहा है। यह प्रवृत्तक, कथोद्‌घात और प्रयोगातिशय तीन प्रकार की होती है।[3] इसका विस्तार, रीति एवं वृत्ति के अध्याय में प्रस्तुत हो चुका है। विश्वनाथ ने पूर्वरङ्ग के विधान के विषय में लिखा है कि सर्वप्रथम पूर्वरङ्गविधान, तदनन्तर रङ्गसभा पूजन

१, यस्य यत्कर्मं शिल्पं वा विद्या वा जातिरेव वा ।
तेनैव नाम्ना वाच्योऽसौ ज्ञेयाश्चान्ये यथोचितम् ॥

साहित्यदर्पण- ६/१५७ का पूर्वार्द्ध एवं १५८ का उत्तरार्द्ध

२ —इतिकर्तव्यता तस्य पूर्वरङ्गो यथाविधि ।
नान्दीमुखानि द्वात्रिंशदङ्गानि पूर्वरङ्गके ॥
देवतानां नमस्कारो गुरूणामपि च स्तुतिः ।
गोब्राह्मणनृपादीनामाशीर्वादादि गीयते ॥

(अग्निपुराण—३३८/८ एवं ९)

३—नटी विदूषको वाऽपि पारिपार्श्वक एव च ।
सहिता सूत्रधारेण संलापः यत्र कुर्वते ॥
चित्रवाक्यैः स्वकार्यार्थं प्रस्तुताक्षेपिभिर्मिथः ।
आमुख्यं ततु विज्ञेयं बुधैः प्रस्तावनाऽपि सा ॥
प्रवृत्तकं यथोद्‌घातः प्रयोगातिशयस्तथा ॥

(अग्निपुराण— ३३८/११ का उत्तरार्द्ध १२, १३)

तत्पश्चा त् नाटक के नाम का अन्त में प्रस्तावना का निर्देश होना चाहिए।[१]

इतिवृत्ति

इतिवृत्ति के ऊपर नाटक की रमणीयता आधारित रहती है, अग्निपुराण के अनुसार इतिवृत्ति नाटक का शरीर है।

इतिवृत्त के दो भेद होते हैं सिद्ध और उत्प्रेक्षित।[२] वास्तव में कथावस्तु वह आकार है, जिस पर कवि अपनी कल्पना का रंग चढ़ाता है। यदि कथावस्तु को ढाँचा मान लिया जाये तो कवि-कल्पना शरीर निर्माणक तत्त्व हैं। अग्निपुराण के अनुसार मूल (सिद्ध) कथानक शास्त्र इत्यादि से प्राप्त होता है। इसको ऐतिहासिक कथावस्तु समझना चाहिए और प्रतिसंस्कृत स्पष्ट कथावस्तु कवि कल्पना-सज्जित होती है। इसके नाम मे स्पष्ट है कि इसमें कवि अपनी कल्पना शक्ति से कुछ नवानतायें सम्पुटित करता है।[३] रुद्रट ने काव्यालंकार में काव्य के भेद-प्रभेद वर्णित करते समय प्रथम उत्पाद्य एवं द्वितीय अनुपाद्य बताया है। उत्पाद्य कथावस्तु वह है जो कवि की कल्पना से निर्मित होती है। कहीं नायक भी कल्पित होता है।[४]

अनुत्पाद्य कथावस्तु में नायक की समूची कथा वस्तु को अथवा उसके अंश की कल्पना करते होता हैं। कथावस्तु इतिहास आदि में प्रसिद्ध वस्तु के आधार पर

१—तद्यपूर्वं पूर्वरङ्गय सभापूजा ततः परम्।
कथनं कविसंज्ञादेर्नाटकस्यऽप्यथामुखम्॥

(साहित्यदर्पण—६/२१)

२. शरीरं नाटकादीनामितिवृत्तं प्रचक्षते।
सिद्धमुत्प्रेक्षितं चेति तस्य भेदावुभौस्मृतौ॥

अग्निपुराण—३३८/१७ का उत्तरार्द्ध एवं १८ का पूर्वार्द्ध

३. सिद्धामागमदृष्टं च सृष्टमुत्प्रेक्षितं कवेः।

अग्निपुराण—३३८/१८ का उत्तरार्द्ध

४. तत्रोत्पाद्या येषां शरीरमुत्पादेयत्वककविः।
कल्पितयुक्तोत्पत्तिं नायकमपि कुत्रचित्कुर्यात्॥

काव्यालंकार—१६/३ श्लोक

रची गयी हो तब उसे अनुत्पाद्य कहते ।[1] धनंजय ने अधिकारिक एवं प्रासंगिक[2] नामक कथावस्तु के दो भेद किए हैं। अधिकारिक कथावस्तु प्रधान होती है। इसके द्वारा सीधे-सीधे प्रधान नायक को फल मिलता है। यह कथा सम्पूर्ण नाटक में चलती है। यह अङ्गी वस्तु है तथा प्रासंगिक कथावस्तु अङ्ग रूप में उपस्थित होती है। यह प्रधान कथा से जुड़ी रहती है और बीच-बीच में आती रहती है। नाटक के अन्त तक उसको दिखलाना आवश्यक नहीं है। भरतमुनि कथावस्तु को काव्य का शरीर मानते हैं।[3] तथा इतिवृत्त भी दो प्रकार का स्वीकार करते हैं। आधिकारिक एवं प्रासंगिक। जिस कथावस्तु में नायक को फलप्राप्ति हो उसे आधिकारिक और गौण कथावस्तु को प्रासंगिक कहते हैं।[1]

अर्थप्रकृतियां

नाट्य-कथा की सर्जना के लिए जिन पांच तत्वों की आवश्यकता होती है। उन्हें अर्थ प्रकृति कहते है। अर्थ प्रकृति ही फल की सिद्धि के मूल कारण हैं। यह तो स्पष्ट ही है कि फल को रूपककार और नायक दोनों का ही फल माना गया है। नाटककार के लिए ही नाटक का फल रसोल्लास है और नायक का फल धर्मार्थ काम[4] मोक्ष रूप पुरुषार्थ-चतुष्टय में से कोई एक अथवा परस्पर संभिन्न पुरुषार्थ हो सकता है। नाटक की अर्थ प्रकृतियाँ पांच हैं बीज, विन्दु, पताका,

---

१. पंजरमितिहासादि, प्रसिद्धमखिलं तदेकदेशं वा ।
परिपूरयेत्स्ववाचा, यत्र कविस्ते त्वनुत्पाद्या ॥

काव्यालंकार—१६।४

२. तत्राधिकारिकं मुख्यमङ्गं प्रासाङ्गिकं विदुः ।।

दशरूपक—१।११ का उत्तरार्द्ध

३. इतिवृत्तं तु काव्यस्य शरीरं परिकीर्तिम् ।

नाट्य शास्त्र—२?।१

१. इतिवृत्तं द्विधा चैव, बुधस्तु परिवर्जयेत् ।
आधिकारिकमेकं तु प्रासंगिकमथापरम् ।
यत्कार्यं तु फलाप्राप्तया सामर्थ्यात्परिकल्पयेत ।
तदाधिकारिकं ज्ञेयमन्यत् प्रासंगिकं विदुः ॥

नाट्यशास्त्र—२१।२ एवं ३

प्रकरी और कार्य अग्निपुराण में इन पांच अर्थ प्रकृतियों की चर्चा है।[1]

नाटक की अर्थप्रकृतियों के विषय में प्रायः सभी विद्वान् एकमत हैं। भरत मुनि ने पांच अर्थप्रकृतियों को गिनाकर कहा है कि विद्वानों को इनका यथाविधि प्रयोग करना चाहिये।[2]

बीज

बीज नामक अर्थप्रकृति संकेतमात्र से फल प्राप्ति तक की समस्त कथावस्तु बताती है।[3] धान्य बीज की भांति रूपक प्रबन्ध का बीज आरम्भ में सूक्ष्म रूप में उपक्षिप्त रहा करता है तथा उत्तरोत्तर विकासशील होता जाता है। विश्वनाथ एवं भरतमुनि की बीज की परिभाषा समान है। विश्वनाथ ने लिखा है कि बीज वह अर्थप्रकृति है, जिसे मुख्य फल का मुख्य हेतु अथवा उपाय कहा गया है। यही धीरे-धीरे विकसित होता रहता है।[4] इसी प्रकार की परिभाषा भरतमुनि की भी है।[5]

बिन्दु

नाटकीय इतिवृत्त में आवश्यक कार्यजन्य व्यवधान के निवारणार्थ जो नायिकादिकृत उपायानुसन्धान की योजना चला करती है, उसे बिन्दु कहते हैं।

---

१. बीजं बिन्दुः पताका च प्रकरी कार्यमेव च ॥
अर्थप्रकृतयः पंच पंच चेष्टा अपि क्रमात् ॥

अग्निपुराण—३३८।१९

२. बीजबिन्दुपताकाश्च प्रकरी कार्यमेव च।
अर्थप्रकृतयः पंच ज्ञात्वा योज्या यथाविधिः ॥

नाट्यशास्त्र—२१।२२

३. अल्पमात्रं समुद्दिष्टं बहुधा यत्प्रसर्पति।
फलावसानं यच्चैव बीजं तदभिधीयते ॥

अग्निपुराण—३३८।२२

४. अल्पमात्रं समुद्दिष्टं बहुधा यद्विसर्पति।
फलस्य प्रथमो बीजं तदभिधीयते ॥

साहित्यदर्पण—६।६५ का उत्तरार्द्ध एवं ६६ का पूर्वार्द्ध

५. अल्पमात्रं समुत्सृष्टं बहुधा यत्प्रसर्पति।
फलावसानं यच्चैव बीजं तदभिधीयते ॥

नाट्यशास्त्र – २१।२३

विश्वनाथ के अनुसार कथाप्रवाह में जहाँ विच्छेद की सम्भावना हो, वहां उसका निराकरण करके जोड़ाना बिन्दु है।[1] भरतमुनि का कथन है कि जो कथावस्तु के विच्छेद की सम्भावनाओं को समाप्त कर उसे सम्बद्ध रखे वही बिन्दु समझना चाहिए।[2] इस प्रकार बिन्दु को नाटक में व्याप्त ज्ञान अथवा विचारूप इतिवृत्त-भाग माना गया है और इसकी योजना अनिवार्य बतलाई गयी है।

पताका

कभी-कभी नाटक में पताका कथावस्तु की योजना की जाती है। इसमें नाटक की कथा कुछ देर के लिए एक नया मोड़ लेती है, जिसमें प्रधान नायक अनुबन्धित होकर किस अवर नायक का काम कर देता है और फिर मूल कथा आरम्भ होती है, जिसमें अवर नायक की सहायता से प्रधान नायक सफलता प्राप्त करता है। जैसे रामायण में सुग्रीव पताका नायक है।[3] उसे राम बालि को मारकर राजा बनाते हैं और वह रावण विजय में राम की सहायता करता है। भरतमुनि ने लिखा है कि पताका प्रधान इतिवृत्त के सहायक के रूप में उपस्थित होने वाला कथावस्तु है, जो मुख्य के समान ही प्रतीक होता है।[4]

प्रकरी

प्रकरी वह इतिवृत्त विशेष है, जो प्रकरी नायक को सिद्धि से रहित होता है। प्रकरीवृत्त एकमात्र आधिकारिक नायक के हित के लिए हुआ करता है। विश्वनाथ ने लिखा है कि प्रकरी वह अर्थ प्रकृति है, जिसे रूपक-प्रबन्धों में

---

१. अवान्तरार्थविच्छेदे बिन्दुरच्छेद कारणम् ॥

साहित्य दर्पण—६।६६ का उत्तरार्द्ध

२. प्रयोजनानां विच्छेदे यदविच्छेद कारणम्।
यावत्कमाप्तिर्बन्धस्य स विन्दुरिति संज्ञिता ॥

नाट्यशास्त्र—२१।२४

३. व्यापि प्रासंगिकं वृत्तं पताकेत्यभिधीयते।
पताका नायकस्य स्यान्न स्वीकीयं फलान्तरम् ॥

साहित्य दर्पण—६।६७

४. यद्वृत्तं हि परार्थ स्यात् प्रधानस्योपकारकम्।
प्रधानवच्च कल्प्येत सा पताकेति कीर्तिता ॥

नाट्यशास्त्र—२१।२५

प्रासंगिक इतिवृत्त के रूप में देखा जा सकता है।[1] भरतमुनि ने प्रकरी के विषय में लिखा है कि इसमें कथावस्तु के विस्तार के लिये निरपेक्ष रूप से अधिकारिक नायक के लिये कृत्यानुष्ठान होता है, उसे प्रकरी समझना चाहिये।[2]

कार्य

यह नाटक की अन्तिम अवस्था है। नाटकी की फलप्राप्ति की सफलता वर्णन करने के लिए इसकी योजन अनिवार्य है। विश्वनाथ ने लिखा है कि कार्यरूप अर्थप्रकृति से अभिप्राय उस प्रधानतया अवस्थित साध्य का है, जिसके उद्‌देश्य से नायक के कृत्य आरम्भ होते हैं और जिसकी सिद्धि में नायक का कृत्यानुष्ठान समाप्त माना जाता है।[3] भरतमुनि के अनुसार जिस उद्‌देश्य विशेष की दृष्टि से नायक का कार्य व्यापार चला करता है, उसकी प्राप्ति का वर्णन कार्यरूप अर्थप्रकृति के अन्दर रहता है।[4] प्रधान उपाय बीज है, वह कार्यरूप ही है। इस प्रकार नाटककार द्वारा बीज रूप से निक्षिप्त वृत्त विशेष की सफलता के लिये नियोजित जो भी वृत्तवैचित्र्य है वह सब कार्य रुप ही है।

अवस्था

अग्निपुराण में अर्थप्रकृति की भाँति नाटकों की पाँच कार्यावस्थायें क्रमशः आरम्भ, यत्न प्राप्त्याशा और फलागम बताई गयी हैं।[5] पाँच कार्यावस्थायें

---

३. प्रासंगिकं प्रदेशस्थं चरितं प्रकरी मता ॥

साहित्यदर्पण—६।६८

१. फलं संकल्प्यते सद्भिः परार्थं यस्य केवलम् ।
अनुबन्धेन हीनस्य प्रकरीं तां विनिर्दिशेत् ॥

नाट्यशास्त्र—२१/२६

२. अपेक्षितं तु यत्साध्यमारम्भो यन्निबन्धनः ।
समापनं तु यत्सिद्धयै तत्कार्यमिति संमतम् ॥

साहित्यदर्पण—६।६९ का उत्तरार्द्ध एवं ७० का पूर्वार्द्ध

३. यदाधिकारिकं यस्तु सम्यक् प्राज्ञैः प्रयुज्यते ।
तदर्थो यः समारम्भस्तत्कार्यं समुदाहृतम् ॥

नाट्यशास्त्र—२१।२७

१. प्रारम्भश्च प्रयत्नाच प्राप्तिः सद्भाव एव च ।
नियता च फल प्राप्तिः फलयोगश्च पंचमः ॥ अग्निपुराण—३३८।२०

मानते हैं। इन अवस्थाओं को नाम्ना स्पष्ट जानकर पुराणों में इनकी परिभाषा नहीं दी गई है।

नाटक—सन्धियाँ

नाटक में पांच सन्धियां होती हैं, जिनको अग्निपुराण में निम्नलिखित क्रम से गिनाया है-मुख, प्रतिमुख, गर्भ, विमर्श और निर्वदण।[1] ये सन्धियां पांच पांच अर्थप्रकृति और पांच कार्यावस्थाओं के अनुसार विकसित की जाती हैं। अग्निपुराण में, जिसे निहरण कहा है भरत आदि आचार्यों ने उसे ही निर्वहण कहा है। भरतमुनि और अन्य नाट्याचार्यों ने भी नाटक में इन पांच सन्धियों को माना है।

मुखसन्धि

मुखसन्धि का नाटक की प्रथम अवस्था है। अग्निपुराण में लिखा है कि जहाँ चमत्कृत अर्थ, रस आदि से युक्त उपर्युक्त बीज नामक अर्थप्रकृति होती है तथा प्रारम्भ नामक कार्यावस्था होती है, वहां नाटकीय कथावस्तु का अनुकारक स्थल मुखसन्धि कहलाता है।[2] यही परिभाषा अक्षरशः भरत के नाट्य शास्त्र में भी मिलता है। विष्णुधर्मोत्तर पुराण में लिखा है कि मुखसन्धि में नाटक के बीज का प्रारम्भ समझना चाहिये।[3] विश्वनाथ के अनुसार मुख सन्धि का अभिप्राय नाटक की अर्थराशि का वह अंश है, जिसके साथ नायक की प्रारम्भावस्था सम्बद्ध रहा करती है। इसमें भिन्न-भिन्न रसभावों की व्यंजना रहती है।[4]

---

१. मुखं प्रतिमुखं गर्भो विमर्शश्च तथैव च।
तथा निहरणं चेति क्रमात्पचेव सन्धयः॥

अग्निपुराण—३३८।२१

२—यत्र बीज समुत्पत्तिर्नानार्थं रससम्भवा।
काव्ये शरीरानुगतं तन्मुखपरिकीर्तिम्॥

अग्निपुराण—३३८।२३ तथा नाट्यशास्त्र—२१।३९

३—ज्ञेया बीजसमुत्पत्तिर्मुखं नानारसोद्भवः।

विष्णुधर्मोत्तर पुराण—६।७६ का पूर्वार्द्ध

४—यत्र बीज समुत्पत्तिः नानार्थरसम्भवा॥
प्रारम्भेण समायुक्ता तन्मुखं परिकीर्तितम्॥

साहित्यदर्पण- ६।७६ का उत्तरार्द्ध एवं ७७ का पूर्वार्द्ध

प्रतिमुख सन्धि

बीज का कुछ लक्ष्य और कुछ अलक्ष्य रूप से विकास होना प्रतिमुख सन्धि कहलाता है। धनंजय ने लिखा है कि बीज का आगे विकसित होना प्रतिमुख सन्धि है। विकास कहीं तो स्पष्ट होता है और कहीं अदृश्य होता है। प्रतिमुख की परिभाषा देते हुए लिखा हैंकि वीज का न्यास करने के बाद जब ऐसा प्रतीत हो, उसके विकसित और उपेक्षित होने की स्थिति है, तब प्रतिमुख नामक सन्धि होती है।[1]

जब प्रयत्न नामक अर्थप्रकृति और प्राप्याशा नामक कार्यावस्था होती है तब प्रतिमुख सन्धि का विधान समझना चाहिये। विष्णुधर्मोत्तर पुराण में प्रतिमुख की परिभाषा देते हुए लिखा हैकि बीज का उद्‌घाटन प्रतिमुख सन्धि होती है।[2]

विश्वनाथ ने इस विषय में लिखा है कि प्रतिमुख वह सन्धि है, जिसमें मुखसन्धि-निविष्ट बीज का ऐसा उद्‌भेद हुआ करता है, जो लक्ष्य और अलक्ष्य दोनों रूप का रहा करता है।[3]

गर्भसन्धि

गर्भसन्धि नाटक की बीच की अवस्था की ओर संकेत करती है। भरतमुनि का कहना हैं कि जहाँ पर बोज की प्राप्ति और अप्राप्ति के विषय में पुनः अन्वेषण हो वह गर्भ–सन्धि है।[4] यह सन्धि पताका नामक अर्थप्रकृति एवं सद्‌भाव या प्राप्त्याशा नामक कार्यावस्था की ओर संकेत करती है। यह सन्धि अपना विशेष

१—बीजस्योद्‌घाटनं यत्तु दृष्टनष्टमिव क्वचित्।
मुखे न्यस्तस्य सर्वत्र तद्धै प्रतिमुखं भवेत्॥

नाट्यशास्त्र–२१।४०

२—मुखार्थबीजोद्धाटनं तथा प्रतिमुखं स्मृतम्॥

विष्णुधर्मोत्तर पुराण– १७।५० का उत्तरार्द्ध

३—फलप्रधानोपायस्य मुखसन्धिनिवेशिनः।
लक्ष्यालक्ष्य इवोद्‌भेदो यत्र प्रतिमुखं च तत्।

साहित्यदर्पण—६।७७ का उत्तरार्द्ध एवं ७८ का पूर्वार्द्ध

४—उद्‌भेदस्तस्य बीजस्य प्राप्तिरप्राप्तिरेव वा।
पुनश्चान्वेषणं यत्र स गर्भ इति संज्ञितः॥

नाट्यशास्त्र—२१।४१

महत्त्व रखती है। इससे आगे की घटनाओं से सामंजस्य करने में सुविधा रहती है।

दशरूपक के अनुसार कभी दृष्ट और कभी नष्ट बीज का पुनः अन्वेषण करना गर्भसन्धि है। इसके १२ अंग होते हैं तथा इसमें पताका का होना वैकल्पिक है।[1]

विष्णुधर्मोत्तर पुराण में गर्भसन्धि के विषय में लिखा है कि जहाँ फलप्राप्ति और अप्राप्ति दोनों की शंका रहती है, उसे गर्भसन्धि कहते हैं।[2] विश्वनाथ ने गर्भसन्धि की परिभाषा अधिक साङ्गोपाङ्ग दी है। उनका कहना है कि सन्धि में मुख और प्रतिमुख सन्धि में क्रमशः किंचिन्मात्र उद्भिन्न प्रधानोपायरूप बीज का ऐसा समुद्भेदन कहा जाता है जिसमें बीच के ह्रास और विकास की चिन्ता साथ ही साथ करती है।[3] इसका नाम गर्भसन्धि बहुत ही सटीक है, क्योंकि इसमें नाटक का फल गर्भित रहता है।

विमर्शसन्धि

जिस सन्धि में कथावस्तु इस मोड़ पर आ जाए कि यह सोचना पड़े कि आगे क्या करें, उस स्थल को विमर्श सन्धि कहते हैं। इसमें प्रकरी नाम के अर्थ प्रकृति और नियताप्ति नामक कार्यावस्था होती है। धनंजय इसे अवमर्श सन्धि कहते हुए इसका लक्षण करते हैं कि जिसमें क्रोध, लोभ या आपत्ति के कारण आगे की घटना में क्या हो ऐसा विचार किया जाता है तथा जिसमें बीजात्मक घटना गर्भ सन्धि की अपेक्षा अधिक विकसित होने लगती है, तब उसे विमर्श कहते हैं।[4] भरतमुनि ने कहा है कि बीज में स्थित कथावस्तु जब आगे

१—गर्भस्तु दृष्टनष्टस्यबीजस्यान्वेषणं मुहुः।
द्वादशाङ्ग पताकास्यान्न वा स्यात् प्राप्तिसंम्भवः॥
दशरूपक—१।३६

२—प्राप्तयाप्राप्तियुतो गर्भस्तस्यै वोद्भवेदसंज्ञितः।
विष्णुधर्मोत्तर पुराण—१७।५१ का पूर्वार्द्ध

३—फलप्रधानोपायस्य प्रागुद्भिन्नस्य किंचन।
गर्भो यत्र समुद्भेदो ह्रासान्वेषणवान्मुहुः॥
साहित्य दर्पण—६।७८ का उत्तरार्द्ध एवं ७९ का पूर्वार्द्ध

४—क्रोधेनाबमृशेद्यत्र व्यसनाद्वा विलोभनात्।
गर्भनिर्भिन्नबीजार्थोऽवमर्श इति स्मृतः॥ दशरूपक—१।४३

अधिक विकसित होने लगती है, तब उसे विमर्श सन्धि कहते हैं।[१]

विष्णुधर्मोत्तर पुराण में विमर्श को विसर्ग नाम से सम्बोधित किया है। इसके विषय में लिखा है कि जब बीज से प्रारम्भ की गई कथावस्तु अधिक विकसित होने लगती है तब विसर्ग नामक सन्धि होती है।[२] विश्वनाथ ने लिखा है कि जब नायक गर्भसन्धि से उद्भिन्न प्रधानोपाय रूप बीज और भी अधिक उद्भिन्न प्रतीत हुआ करता है और साथ ही साथ वाह्य परिस्थितियों के कारण आने वाली विघ्न-बाधाओं से भी लड़ता दिखाई देता है तो उसे प्रदेश का गर्भसन्धि समझना चाहिए।[३]

निहरण अथवा निर्वहण

जिसको अन्य आलंकारिकों ने निर्वहण सन्धि कहा है, उसे अग्निपुराण में निहरण कहा गया है। यह नाटक की सबसे अन्तिम अवस्था है। विश्वनाथ कहते हैं कि निर्वहण सन्धि नाटक की वह अर्थराशि हैं, जिसमें उन-उन सन्धियों में यत्र तत्र उपन्यस्त बीजादि रूप इतिवृतांश प्रधान फल के निष्पादक बनते दिखाई दिया करते हैं।[४] भरतमुनि ने कहा हैं कि जब बीज के उपन्यस्त कथावस्तु पूर्णता की ओर पहुँच जाती हैं,तब उसे निर्वहण सन्धि समझना चाहिये।[५] इसे कार्य नामक

१—गर्भनिभिन्नबीजार्थो विलोभनकृतोऽपि वा।
कच्चिदाश्लेषसंयुक्तो, विमर्शः स इति स्मृतः॥
नाट्यशास्त्र—२१।४२

२—तदेवोद्भिन्न बीजार्थो विसर्गो व्यसनान्वितः॥
विष्णुधर्मोत्तर पुराण—१७।५१

३—यत्रमुख्यफलोपाय उद्भिन्नो गर्भतोऽधिकः॥
शापाद्यैः सान्तरायश्च स विमर्श इति स्मृतः।
साहित्यदर्पण—६।७९ का उत्तरार्द्ध एवं ८० का पूर्वार्द्ध

४—बीजवन्तो मुखाद्यर्था विप्रकीर्णा यथायथम्॥
एकार्थमुपनीयन्ते यत्र निर्वहण हि तत्।
साहित्य दर्पण—६।८० का उत्तरार्द्ध तथा ८१ का पूर्वार्द्ध

५—समानयनं समार्थानां मुख्यादीनां सबीजिनाम्।
फलोपसङ्गतानां च ज्ञेयं निर्वहणं तु तत्॥
नाट्यशास्त्र—२१।४३

अर्थप्रकृति एवं फल योग नामक कार्यावस्था की चरम पूर्णता होती है। विष्णु-धर्मोत्तर पुराण में लिखा है कि जब नाटक की कथावस्तु समाप्ति की ओर पहुँचती है तथा बीज की अवस्था में स्थापित किया गया इतिवृत्त फल की पूर्णता की ओर अग्रसर होता हैं तो उसे निर्वहण-सन्धि कहते हैं।[1]

दशरुपककार कहते हैं कि जिस कथांश में, मुखसन्धि आदि में कहे हुए बोजानुवर्ती अर्थप्रधान अर्थ से जोड़ दिए जाते हैं, उसे निर्वहण सन्धि कहते हैं।[2]

अन्त में अग्निपुराण में समस्त सन्धियों की उपयोगिता तथा कथावस्तु में उनके गुम्फन पर प्रकाश डालते हुए लिखा हैं कि मुखसन्धि में अभीष्ट कथावस्तु की रचना, इतिवृत्ति का अनुपक्षय, नाटक की आनन्दमयी स्थिति का उद्घाटन, गोपनीय बातों का गोपन, ख्यात घटना सूत्र का आश्चर्यमयी पद्धति से कथन, प्रकाशनीयों तथ्यों का प्रकाशन इन सभी नाटकीय गुणों का उल्लेख होना चाहिए। इन उपयुक्त गुणों से रहित काव्य अंगहीन मनुष्य की भाँति श्रेष्ठ नहीं बन सकता हैं।[3]



१—मुखादीनां निर्वहणं तथा निर्वहणं भवेत्।

विष्णुधर्मोत्तर पुराण—१७।५२ का पूर्वार्द्ध

२—बीजवन्तो मुखाद्यर्था विप्रकीर्णा यथायथम्।
एकार्थमुपनीयन्ते यत्र निर्वहणं हि तत्॥

दशरुपक—१।४८ का उत्तरार्द्ध एवं ४६ का पूर्वार्द्ध

३—इष्टस्यार्थस्य रचना वृत्तान्तस्यानुपक्षयः।
रागप्राप्तिः प्रयोगस्य गृह्यानाचैव गूहनम्॥
आश्चर्यवदभिख्यातं, प्रकाशानां प्रकाशनम्।
अङ्गहीनो नरोयदवन्न श्रेष्ठं काव्यमेव च॥

अग्निपुराण—३३८।२४ एवं २५

४—यावदर्थ कपदत्वरुपमर्थवैमल्यं प्रसादः। रसगंगाधर—पृ० २३८

काव्यगुण-विवेचन

काव्य की शोभा बढ़ाने वाले अंतरंग धर्म को गुण कहा गया है। शब्द और अर्थ काव्य के शरीर हैं तथा रस आत्मा है। गुण रस के मुख्य धर्म हैं। इसलिए गुण का रस के साथ साक्षात् सम्बन्ध होता है। काव्य की रमणीयता में वृद्धि करने के लिए कवि निरन्तर प्रयत्न शील रहता है। जिन तत्त्वों के आधार पर काव्य में रमणीयता की वृद्धि होती है, उसे कवियों ने गुण तथा अलंकार कहा है। परन्तु गुण के आधार पर तो काव्य का अस्तित्व ही होता है। अतः गुण ही अधिक महत्त्वपूर्ण है। गुणयुक्त काव्य की श्रीवृद्धि करने में अलंकार सहायक है। अतएव गुण काव्य के अपरिहार्य धर्म हैं।

भिन्न-भिन्न आलंकारिकों ने काव्यगुण की भिन्न-भिन्न परिभाषाएं दी हैं किन्तु सभी परिभाषाओं का एक सार यही निकलता है कि काव्य में सदा विद्यमान रहनेवाले तथा शोभा के उत्कर्ष को बढ़ानेवाले रस के धर्म को गुण कहते हैं। मम्मट ने लिखा है कि जिस प्रकार आत्मा के धर्म शूरता इत्यादि हैं, उसी प्रकार काव्य में आत्मवत् स्थित रस के उत्कर्ष करने वाले तत्त्व गुण कहलाते हैं।[1]

अग्निपुराण में गुण के विषय में बतलाते हुए अग्निदेव कहते हैं कि जो साधन काव्य में महती शोभा उत्पन्न करते हैं, उन्हें गुण कहते हैं गुणों को सामान्य और विशेष दो-दो वर्गों में विभाजित किया गया है।[2] आचार्य विश्वनाथ के अनुसार जैसे प्राणियों के शरीर में सारभूत रस तत्त्व के धर्म माधुर्य ओज आदि गुण कहे जाते हैं। उसी प्रकार काव्य शरीर में सारभूत रस तत्त्व के धर्म माधुर्य ओज आदि भी गुण कहे जाते हैं। इनकी दृष्टि में ये गुण तीन हैं—ओज, प्रसाद और माधुर्य।[3]

---

१. ये रसस्याङ्गिनो धर्माः शौर्यादयः इवात्मनः।
उत्कर्षहेतवस्ते स्युरचलस्थितयो गुणाः॥
(काव्यप्रकाश–८/कारिका ८७)

२. यः काव्ये महती छायामनुगृह्णात्यसौ गुणः।
सम्भवत्येष सामान्यो, वैशेषिक इति द्विधा॥ (अग्निपुराण–३४६/३)

३. रसस्याङ्गित्वमाप्तस्य धर्माः शौर्यादयो यथा।
गुणा माधुर्यमोजोऽयं, प्रसाद इति त्रिधा॥ (साहित्यदर्पण–८/१)

आनन्द वर्धन की गुण की परिभाषा के अनुसार जो उस प्रधानभूत रस के आश्रित रहनेवाले हैं, उसे गुण कहते हैं तथा जो शब्द और अर्थ के आश्रित रहनेवाले हैं वे कटकादि के समान अलंकार कहलाते हैं।[१] जो साक्षात् रस के आश्रित रहनेवाले माधुर्य आदि हैं, उनको साक्षात् आत्मा में रहनेवाले शौर्य आदि के समान गुण कहते हैं। अतः यह स्पष्ट होता है कि काव्य में गुणों की स्थिति रस को अलंकृत करनेवाले तत्त्व के रूप में होती है। अलंकार काव्य के वृद्धि कारक तत्त्व हैं, परन्तु शोभाजनक तत्त्व तो गुण ही हैं। भोजराज के अनुसार अलंकार इन दोनों के योग में गुण का ही अधिक महत्वपूर्ण स्थान है।[२] भोजराज ने काव्य का लक्षण देते हुए उसका दोषहीन, और गुणयुक्त होना अधिक आवश्यक बतालाया। उसमें अलंकारों का उपयोग होना उतना आवश्यक नहीं माना है। वे सौन्दर्य कारक अवश्य हैं।[3]

इसी प्रकार आचार्य मम्मट ने भी काव्य के निर्दोष और सगुण होने पर अधिक बल दिया है, अलंकृति तो वैकल्पिक है।[४]

अग्निपुराण में गुण का महत्त्व बतलाते हुए लिखा गया है कि माधुर्यादि गुणों से रहित काव्य अलंकृत होने पर भी आह्लाददायक नहीं होता है, जैसे असुन्दर नारियों के लिए रत्नहार भी भार बन जाता है।[५] यदि काव्य सुन्दर और गुणयुक्त होगा तभी अलंकार उसमें सौन्दर्य उत्पन्न कर सकेंगे

---

१. तमर्थमवलम्बन्ते येऽङ्गिनं ते गुणाः स्मृताः।
अङ्गाश्रितास्त्वलङ्कारा मन्तव्याः कटकादिवत्॥
(ध्वन्यालोक–२/६ कारिका)

२. अलंकृतमपि श्रव्यं न काव्यं गुणवर्जितम्।
गुणयोगस्तयोर्मुख्यो गुणालंकारयोगयोः॥
(सरस्वतीकण्ठाभरण–१/५९)

३. निर्दोषं गुणवत्काव्यमलंकारैरलंकृतम्।
(सरस्वतीकण्ठाभरण–१/२)

४. तददोषौ शब्दार्थौसगुणावनलंकृती पुनः क्वापि।
(काव्यप्रकाश–१/१)

५. अलंकृतमपि प्रीत्ये न काव्यं निर्गुणं भवेत्।
वपुलिते स्त्रीणां हारो भारायते परम्॥
(अग्निपुराण–३४६/१)

अन्यथा उनका विपरीत प्रभाव होगा। जैसे यदि किसी व्यक्ति के हाथ की अंगुलियों में नाखून न हो किन्तु अंगूठी हो तो एक अकथनीय वितृष्णा उत्पन्न होगी। यही वितृष्णा गुणरहित काव्य के विषय में होती है।

गुणों की संख्या

भिन्न-भिन्न आचार्यों ने गुणों की भिन्न-भिन्न संख्या मानी है। दण्डी ने काव्यादर्श में, श्लेष, प्रसाद, समता, माधुर्य, सुकुमारता, अर्थव्यक्ति, उदारता, ओज, कान्ति और समाधि नामक दस गुण बतलाए हैं।[1]

आचार्य भरत ने भी गुणों की संख्या दस ही मानी हैं।[2] गुणों का नाम भी वही सर्वमान्य है, जो दण्डी ने गिनाए हैं। चन्द्रालोककार ने इन्हीं दस गुणों का प्रतिपादन किया है।[3]

भोजराज ने काव्य में चौबीस शब्दगुण और चौबीस अर्थगुण माने हैं, यद्यपि दोनों के नाम तो एक ही हैं परन्तु शब्दों को सुशोभित करने वाले शब्दगुण हैं और जब यही अर्थ को सुशोभित करते हैं तो वे अर्थगुण कहलाते हैं। श्लेष, प्रसाद, समता, माधुर्य सुकुमारता, अर्थव्यक्ति, कान्ति, उदारत्व, उदात्तता, ओज, और्जित्य, प्रेयान्, सुशब्दता समाधि, सौक्ष्म्य, गाम्भीर्य, विस्तर, संक्षेप, संमितत्व, भाविकत्व गति, उक्ति तथा प्रौढि।[4]

---

१. श्लेषः प्रसादः समता माधुर्य सुकुमारता।
अर्थव्यक्तिरुदारत्वमोजः कान्तिसमाधयः॥
इतिवैदर्भमार्गस्य प्राणा दशगुणाः स्मृता।
(काव्यादर्श–१/४१ एवं ४२ का पूर्वार्द्ध)

२. श्लेषः प्रसादः समता समाधि माधुर्यमोजः पदसौकुमार्यम्।
अर्थस्य च व्यक्ति रुदारता च, कान्तिश्च काव्यार्थगुणाः दशैते॥
(नाट्यशास्त्र–१७/९७)

३. अमी दशगुणा काव्ये पुंसि शौर्यादयो यथा।
(चन्द्रालोक—५/१०)

४. चतुर्विशतिराख्यातस्तेषु ये शब्दसंश्रयाः।
ते तावदभिधीयन्ते नाम लक्षणयोगतः॥
श्लेषः प्रसादः समता माधुर्यं सुकुमारता।
अर्थव्यक्तिस्तथा कान्तिरुदारत्वमुदात्तता॥
(सरस्वती-कण्ठाभरण–१/६२–६३)

भोजराज ने गुणों को अत्यधिक महत्त्व दिया है। वैशेषिक गुण तो इनकी अपनी मान्यता है। जयदेव ने दोष परिहार को दोषाङ्कुश नाम से अभिहित किया है। पूर्ववर्ती आचार्यों ने भी ऐसी स्थितियों का निर्देश किया है, जहाँ पर दोष नहीं रह जाते हैं, किन्तु उनका नामकरण तथा गुणों के मध्य गणना करने का प्रयास भोज ने किया है। इसी कारण भोज के २४ गुण दण्डी और आचार्य भरत द्वारा गिनाए दस गुणों में समाविष्ट हो जाते हैं। विश्वनाथ और मम्मट ने तो तीन ही प्रकार के गुण माने हैं—ओज, प्रसाद और माधुर्य[1]। मम्मट ने दस गुणों की संख्या का खण्डन करते हुए तीन काव्य-गुण मानने पर बल दिया है।[2]

ध्वनिवादी आचार्यों की दृष्टि में काव्यगुण तीन ही हैं क्योंकि रसास्वादन के समय सामाजिकों के हृदय की तीन अवस्थाएं होती हैं। प्रथम द्रुति, द्वितीय विस्तार, और तृतीय विकास। शृंगार और शान्त में चित्त द्रुति होती है। वीर रौद्र और बीभत्स में चित्त का विस्तार होता है तथा हास्य अद्भुत और भयानक में चित्त का विकास होता है। इस प्रकार रसास्वादन की तीन अवस्थाएं होने के कारण इसके धर्म गुण भी तीन हैं। कुछ गुण स्वतन्त्र सत्ता नहीं रखते अपितु दोषाभाव मात्र ही होते हैं, शेष गुणों का एक दूसरे में अन्तर्भाव हो जाता है। शब्दगुणों में श्लेष, समाधि, औदार्य, उदारता, ओज और समाधि इनका अर्न्तभाव ओज-गुण के ही अन्तर्गत हो जाता है, अर्थव्यक्ति प्रसाद गुण के अन्तर्गत आती है। कान्तिगुण ग्राम्य दोष का अभाव मात्र है। समता कहीं-कहीं स्वयं दोष बन जाती है जबकि दोष का अभाव मात्र समता है।

ओजस्तथान्यदौर्जित्यं प्रेयानथ सुशब्दता ।
तद्वत्समाधिः सौक्ष्म्यं च गाम्भीर्यमथ विस्तरः ॥
संक्षेपः संमितत्वं च भाविकत्वं गतिस्तथा ।
रीतिरुक्तिस्तथा प्रौढिरथैषां लक्ष्यलक्षणे ॥

(सरस्वतीकण्ठाभरण–१/६४ एवं ६५)

१. माधुर्यमोजोऽथ प्रसाद इति ते त्रिधा ॥

(साहित्यदर्पण–८/१)

२. माधुरयौंजःप्रसादाख्यस्त्रयस्ते न पुनर्दश ।

(काव्यप्रकाश–८/८९)

अग्निपुराण में सर्वप्रथम सामान्य और विशेष नाम से दो प्रकार के गुण बतलाए हैं। फिर तीन प्रकार के सामान्य गुणों की चर्चा की गई है।[१]

शब्दगुण की परिभाषा देते हुए अग्निदेव ने कहा कि जो काव्य के शरीररूप शब्द के आश्रित रहता है उसे शब्दगुण कहते हैं। इसके सात भेद हैं श्लेष, लालित्य, गाम्भीर्य, सुकुमारता उदारता, सत्य और यौगिकी।[२] अधिकांश आचार्यों ने शब्दगुण और अर्थगुण एक हो गिनाए हैं। यद्यपि उनकी परिभाषा भिन्न दी है परन्तु अग्निपुराण में अर्थगुणों के भी नाम अलग गिनाए हैं। केवल कोमलता गुण दोनों में गिनाया है। नीचे शब्दगुणों का क्रमिक परिचय दिया जा रहा है।

श्लेष

अग्नि पुराण के अनुसार शब्दों के सघन गुम्फन का नाम श्लेष है।[3] दण्डी के अनुसार श्लेष है शिथिलता से रहित वाक्यसमूह।[४] भरत ने भी श्लेष को शब्दगुण के अन्तर्गत माना है। उनका कहना है कि शब्दों की श्लिष्टता को श्लेष गुण कहते हैं।[५]

चन्द्रालोककार जयदेव के अनुसार जिसमें सजातीय शब्दों का सुखद

---

१. सर्वसाधारणीभूतः सामान्य इति मन्यते ।
शब्दमर्थमुभौ प्राप्तः सामान्यो भवति त्रिधा ॥
(अग्निपुराण ३४६/४)

२. शब्दमाश्रयते काव्यं शरीरं यः स तद्गुणः ।
श्लेषो लालित्य-गाम्भीर्ये सौकुमार्यमुदारता ॥
सत्येव यौगिकी चेति गुणाः शब्दस्य सप्तधा ।
(अग्निपुराण—३४६/५ एवं ६ का पूर्वार्द्ध)

३. सुश्लिष्टसंनिवेशत्वं शब्दानां श्लेष उच्यते ॥
(अग्निपुराण—३४६/६ का उत्तरार्द्ध)

४. श्लिष्टमस्पृष्टशैशिथल्यमल्पप्राणाक्षरोत्तरम् ।
(काव्यादर्श—१/४३)

५. श्लिष्टता या पादानां हि श्लेष इत्यभिधीयते ।
(नाट्यशास्त्र—१७/९८ का उत्तरार्द्ध)

शब्द बन्ध होता है, उस काव्य में श्लेषगुण समझना चाहिए।[1] पण्डितराज जगन्नाथ ने श्लेष की परिभाषा देते हुए लिखा है कि भिन्न-भिन्न रूपवाले शब्दों के भी उस योजना विशेष को श्लेष कहते हैं, जो एक जातीय वर्णों से युक्त हो तथा अत्यन्त सन्निकर्ष से एक ही तरह के शब्दों से बना हुआ प्रतीत होता हो।[2] पण्डितराज के मत से उसे गाढत्व भी कह सकते हैं।

भोजराज ने कहा है कि जिसमें सुन्दर श्लिष्ट पदत्व होता है, उसे श्लेष कहते हैं।[3] वामन ने मसृणत्व भाव को श्लेष कहा है। अर्थात् जहाँ पर अनेक पद एक ही प्रकार के प्रतीत हों, वहाँ पर श्लेष नामक गुण होता है।

लालित्य

काव्य गुणों में लालित्य को महत्त्वपूर्ण माना गया है। इसीलिए लालित्य-युक्त काव्यों का साहित्य में विशिष्ट स्थान है। अग्निपुराण के अनुसार जहाँ पर अत्यधिक सन्धि-बन्धों का अभाव होता है, वहाँ पर लालित्य नामक गुण होता है।[4] भोजराज ने पृथक पदत्व को माधुर्य-गुण के अन्तर्गत माना है। उनके अनुसार वाक्यों की जो अलग-अलग स्थिति होती है उसे माधुर्य कहते हैं।[5] वामन तो समास की दीर्घता नहीं चाहते हैं परन्तु भोज तो संहिता को भी स्वीकार नहीं करते हैं। इससे स्पष्ट है कि अग्नि पुराण में जिसे लालित्य गुण कहा है उसे भोजराज ने माधुर्य गुण कहा है। अग्निपुराण में माधुर्य को अर्थ गुण तो माना है परन्तु शब्द गुण नहीं।

---

१. श्लेषोविघटमानार्थं घटमानत्ववर्णनम्।
स तु शाब्द-सजातीयैः शब्दैर्बन्धसुखावहः॥
(चन्द्रालोक–४/१)

२. शब्दानां भिन्नानामप्येकत्वप्रतिभानप्रयोजकः सहितमैकजातीय-वर्णविशेषो गाढत्वपरपर्यायः श्लेषः।
(रसगंगाधर प्रथम आनन, पृ० २२८)

३. गुणः सुश्लिष्टपदता श्लेष इत्यभिधीयते।
(सरस्वतीकण्ठाभरण–१६६ का पूर्वार्द्ध)

४. गुणादेशादिना पूर्वपदसंदंग्धमक्षरम्।
यत्र संधीयते नैव लालित्यमुदाहृतम्॥
(अग्निपुराण–३४६/७)

५. या पृथक्पदता वाक्ये तन्माधुर्यमिति स्मृतम्।
(सरस्वतीकण्ठाभरण–१/६७ पूवार्द्ध)

गाम्भीर्य

अग्निपुराण के अनुसार गाम्भीर्य के लिए शब्द सुगम रक्खे जाते हैं पर वर्णन विशिष्ट चिह्न से समन्वित होते हैं।[१]

भोजराज ने गाम्भीर्य नामक गुण की चर्चा करते हुए लिखा है कि जिस वाक्य का अर्थ समझने के लिए उसमें प्रयुक्त पदों के शास्त्र-विशेष में प्रयुक्त अर्थ विशेष की अत्यन्त अपेक्षा होती है, उस वाक्यार्थ में गाम्भीर्य गुण समझना चाहिए।[२] अन्य आचार्यों ने गाम्भीर्य गुण को स्थान नहीं दिया है।

सुकुमारता

सुकुमारता को अधिकांश विद्वानों एवं लक्षण-ग्रन्थकारों ने शब्द गुण के अन्तर्गत रक्खा है। दण्डी ने भी इसको महत्त्वपूर्ण शब्द गुण स्वीकार करते हुए इसके विषय में लिखा है कि जिस पदबन्ध में कोमल पदावली हो प्रायः अनिष्ठुर अक्षरों का प्रयोग हो, श्रुतिकटुत्व दोष से रहित शब्द हो तथा वाक्य में अधिक से अधिक सुकुमारता लाने का यत्न किया गया हो वहाँ पर सुकुमारता नामक गुण होता है।[3] अग्निपुराण की परिभाषा भी दण्डी के समान ही है कि प्रायः अनिष्ठुर अक्षरों का प्रयोग ही सुकुमारता।[४] भरत मुनि ने भी सुकुमारता को शब्द गुण के अन्तर्गत रखते हुए इसके विषय में लिखा है कि जिसमें सुखकर शब्दों का प्रयोग हो, सरल सन्धि हो तथा सुकुमार काव्य योजना हो, वहाँ सुकुमारता नामक गुण होता है।[५]

---

१. विशिष्टलक्षणोल्लेखमुत्तानशब्दकम् ।
गाम्भीर्यं कथयन्त्यार्यास्तदेवान्येषु शब्दानाम् ॥
(अग्निपुराण—३४६/८)

२. शास्त्रार्थसव्यपेक्षत्वं गाम्भीर्यमभिधीयते ।
(सरस्वती कण्ठाभरण—१/८५ पूर्वार्द्ध)

३. अनिष्ठुराक्षरप्रायं सुकुमारमिहेष्यते ।
बन्धशैथिल्यदोषोऽपि दर्शितः सर्वकोमले ॥
(काव्यादर्श—१/६९)

४. अनिष्ठुराक्षरप्रायाः शब्दता सुकु मारता ।
(अग्निपुराण—३४६/९ का पूर्वार्द्ध)

५. सुखप्रयोज्यैर्यच्छब्दैर्युक्तं सुश्लिष्टसन्धिभिः ।
सुकुमारार्थसंयुक्तं, सौकुमार्यां तदुच्यते ॥
(नाट्यशास्त्र—१७/१०४)

भोजराज का भी सुकुमारता गुण के विषय में वही मत है जो दण्डी और अग्निपुराण का है। उनके अनुसार जिस वाक्य में अधिकतर पुरुष वर्ण न हो वहाँ तुकुमारता गुण समझना चाहिए।[१]

काव्यप्रकाशकार मम्मट ने सुकुमारता को अलग गुण न मानते हुए श्रुतिकटुत्व दोष का अभावमात्र स्वीकार किया है। उन्होंने लिखा है कि कष्टत्व और ग्राम्यत्व दोष से रहित जो पदावली है, उसी का नाम सुकुमारता है।[२] जयदेव के कथनानुसार यदि किसी अनिष्ट और अमंगलसूचक शब्दों को हटाकर उनका पर्याय कथन कर दिया जाये तो वहाँ पर सौकुमार्य गुण को जानना चाहिए।[3] पण्डितराज जगन्नाथ ने भी जहाँ पर अपरुष वर्णों का प्रयोग हो उस वाक्य में सुकुमारता नामक गुण माना है।[४]

उदारता

उदारता नामक गुण की चर्चा करते हुए अग्निपुराण में लिखा है कि जिस पद में ओजसंयुक्त वर्णन श्लाध्य विशेषणों से परिपूर्ण रहता है उस पद में उदारता नामक गुण माना जाता है।[५]

जयदेव के मतानुसार जो बात चातुर्यपूर्ण ढंग से कही जाती है, उसमें उदारता नामक गुण माना जाता है।[६] भोजराज के मतानुसार विकट अक्षर

१— अनिष्ठुराक्षरप्राप्यं सुकुमारमिति स्मृतम्।
(सरस्वती-कण्ठाभरण—१/६८ का उत्तरार्द्ध)

२— कष्टत्वग्राम्यत्वयोर्दुष्टताभिधानात्त निराकरणेनापारुष्य एव सौकुमार्यम्।
(काव्यप्रकाश—८/पृ० ३८७)

३— सौकुमार्यमपारुष्यं पर्यायपरिवर्तनात्।
(चन्द्रालोक—४/८ का पूर्वार्द्ध)

४— अपरुषवर्णघटितत्वं सुकुमारता।
(रसगंगाधर प्रथम आनन/पृ० २३१)

५— उत्तानपादतौदार्ययुतं श्लाध्यैर्विशेषणैः।
(अग्निपुराण-३४६/९ का उत्तरार्द्ध)

६— उदारता तु वैदग्ध्यमग्राम्यत्वात् पृथङ्मता।
(चन्द्रालोक-४/९ का पूर्वार्द्ध)

से युक्त विशाल पदबन्ध को उदारता नामक गुण कहा जाता है।[१] इसमें विशाल पद बन्ध होने के कारण पद नृत्य करते से प्रतीत होते हैं और यही इस गुण का सौन्दर्य है। भोजराज ने उदात्तता को एक अलग गुण माना है परन्तु उसकी परिभाषा को देख कर प्रतीत होता है कि भोज का उदात्तता नामक गुण अग्निपुराण के उदारता नामक गुण में अन्तर्लीन हो जाता है। भोजराज के अनुसार जहाँ पर सज्जनों के हृदय को आकृष्ट करने में समर्थ श्लाघनीय विशेषणों का योग है, उस पद में उदात्तता नामक गुण रहता है।[२]

आचार्य मम्मट के अनुसार चतुरतापूर्ण उक्ति में ग्राम्यत्व दोष का अभाव होता है। इसको अलग से स्थान देने की आवश्यकता नहीं। अतएव मम्मट ने इसका अन्तर्भाव ओज गुण में किया है।[3]

पण्डितराज जगन्नाथ ने इसकी पृथक् सत्ता स्वीकार करते हुए लिखा है कि कठिन वर्णों के प्रयोग के फल स्वरूप जो विकटत्व उपस्थित होता है, वह उदारता है।[४]

सत्यगुण

अग्निपुराण में ओजगुण को सत्यगुण के नाम से अभिहित किया गया है। शब्दगुण गिनाने के क्रम में सत्य और यौगिकी इन गुणों को अलग गिनाया था, परन्तु उनको उसी नाम से विवृत न कर ओजगुण से विवृत किया गया है तथा ब्रह्म से लेकर तृण पर्यन्त ओजगुण पर आधृत माना हैं।[५]

---

१. विकटाक्षरबन्धत्वमार्यैरौदार्यमुच्यते ।
(सरस्वतीकण्ठाभरण–१/८ का पूर्वार्द्ध)

२. श्लाध्यैविशेषणैर्योगे यस्तु सा स्यादुदात्तता ।
(सरस्वतीकण्ठाभरण–१/८ का उत्तरार्द्ध)

३. या च विकटत्वलक्षणा उदारता यश्चौजोमिश्रित-
शैथिल्यात्माप्रसादः तेषामोजस्यन्तर्भावः ।
(काव्यप्रकाश–८ पृ० ३८७)

४. कठिनवर्णघटनारूपविकटत्वलक्षणोदारता ।
(रसगंगाधरप्रथम आनन/पृ० २३२)

५. ओजः समासभूयस्त्वमेतद् गद्यादि जीवितम् ।
आब्रह्मस्तम्बपर्यन्तमोजसैकेन पौरुषम् ॥ (अग्निपुराण–३४६/१०)

दण्डी ने काव्यादर्श में विवेचन करपे हुए इसी तथ्य का अनुमोदन किया है।[१] विश्वनाथ कविराज के अनुसार सहृदयों के हृदय में ओज वह प्रज्वलित-प्रायता है जिसका स्वरूप चित्त की विस्तृति अथवा उष्णता है। यह ओज वीर, बीभत्स और रौद्र रस में उत्तरोत्तर प्रकृष्ट रूप में विराजमान रहा करता है।[२] ऐसा ही मत पण्डितराज जगन्नाथ का है। वे कहते हैं कि ओज गुण वीर में स्थित रहता है, वीभत्स में उससे अधिक और रौद्र रस में सबसे अधिक रहता है।[3]

आनन्द वर्धन ने ओज के विषय में लिखा है कि काव्य में रौद्रादि रस के अभिव्यंजक शब्द और अर्थ के आश्रय में ओजगुण रहता है।[४] भोजराज ने ओज और और्जित्य नामक दो भिन्न शब्दगुणों का नामोल्लेख किया है परन्तु उनका और्जित्य गुण भी ओज के अन्तर्गत ही समाहित हो जाता है। भोज के अनुसार अनेक अर्थों में वक्ता के निश्चय की विशिष्टता का प्रतिपादन ही ओज है तथा प्रौढ अहंकार का प्रदर्शन और्जित्य है।[५] वीर और रौद्र रस के प्रयोग में ही प्रौढ अहंकार का प्रदर्शन अत्यधिक होता है। अतः इन दोनों गुणों को एक मानना चाहिए।

---

१. ओजः समासभूयस्त्वमेतद् गद्यस्य जीवितम्।

(काव्यादर्श–१/८० का पूवार्द्ध)

२. ओजश्चित्तस्य विस्ताररूपं दीपत्वमुच्यते।
वीरबीभत्सरौद्रेषु, क्रमेणाधिकमस्य तु॥

(साहित्यदर्पण–८/४)

३. वीरवीभत्सरौद्रेष्वोजसो यथोत्तरमतिशयः
उत्तरोत्तरमतिशयितायाः चित्तदीप्तेर्जननात्।

(रसगंगाधर प्रथम आनन/पृ० २२०)

४. रौद्रादयो रसा दीप्त्या लक्ष्यन्ते काव्यवर्तिनः।
तद्व्यक्तिहेतू शब्दार्थावाश्रित्यौजो व्यवस्थितम्॥

(ध्वन्यालोक–२/९)

५. ओजः स्वाध्यवसायस्य विशेषोऽर्थेषु यो भवेत्।

तथा

रूढाहंकारतौर्जित्यम्।

(सरस्वतीकण्ठाभरण–१/८२ का उत्तरार्द्ध एवं ८३ का पूवार्द्ध)

मम्मट के अनुसार वीर, रौद्र, और वीभत्स रस में ओज गुण की स्थिति अधिक रहती है ।[1] उन्होंने ओज, प्रसाद और माधुर्य तीन गुणों की स्थिति स्वीकार की है और ओज गुण को महत्त्व प्रदान किया है, परन्तु उनके अतिरिक्त भी काव्यमर्मज्ञों ने ओजगुण को अपरिहार्य माना है ।

अग्निपुराण में शब्दगुणों की विवेचना करने के पश्चात् अर्थगुणों के महत्त्व और प्रकार पर प्रकाश डाला गया है । यदि अर्थ में किसी प्रकार का अलौकिक उत्कर्ष रहता है या प्रस्तुत किए गए विषय में उत्कर्ष का निर्वाह किया जाता है तो उसे अर्थगुण कहते हैं । माधुर्य, संविधान, कोमलता, उदारता, प्रौढि और सामयिकत्व छः ये अर्थगुण बतलाए गए हैं ।[2]

माधुर्य

ध्वनिवादी आचार्य एवं मम्मटादि जिन्होंने काव्य के तीन गुण स्वीकार किए हैं, माधुर्य को अत्यधिक महत्त्वपूर्ण गुण मानते हैं । अग्निपुराण के अनुसार जिस पद में क्रोध, ईर्ष्या आदि भावों की अवस्था के समान ही गम्भीरता का अभाव हो तथा धैर्य का समावेश हो ऐसी पदावली में माधुर्य नामक गुण होता है ।[3] मम्मट के अनुसार माधुर्य का सर्वाधिक उत्कृष्ट रूप शृंगार, शान्त और करुण में होता है, क्योंकि जो चितद्रुति का कारण है, वही माधुर्य गुण है ।[4] शृंगार आदि रस आनन्द स्वरूप हैं और इनके भीतर

१— दीप्त्यात्मविस्तृतेर्हेतुरोजो वीररसस्थितिः ।
(काव्यप्रकाश–८/९२)

२— उच्यमानस्य शब्देन येन केनापि वस्तुनः ।
उत्कर्षमावहन्नर्थो गुण इत्यभिधीयते ।।
माधुर्यसंविधानं च कोमलत्वमुदारता ।
प्रौढिसामयिकत्वं च तद्भेदाः षट् चकासति ।।
(अग्निपुराण—३४६/।। एवं १२)

३— क्रोधेर्ष्याकारगाम्भीर्यमाधुर्यधैर्यगाहिता ।
(अग्निपुराण—३४६/१३ का पूर्वार्द्ध)

४— आह्लादकत्वं माधुर्यं शृंगारे द्रुतिकारणम् ।
करुणे विप्रलम्भे, तच्छान्ते चातिशयान्वितम् ।
(काव्यप्रकाश—८/९० और ९१ कारिका)

एक विशेष प्रकार की आनन्दरूपता होती है, जिसके कारण सहृदय जनों का चित्त द्रवित हो जाता है, तथा उनका द्वेषीकृत काठिन्य तिरोहित हो जाता है। उस काठिन्य के तिरोहित होने में जो एक विशेष कारण छिपा हुआ है वही कारण धर्म माधुर्य गुण है।

विश्वनाथ के अनुसार कि माधुर्य आनन्द या आह्लाद है जिसका प्रमाण सहृदय के चित्त की द्रवीभूत होना है।[१] वे मम्मट के मत से पूर्ण सहमत हैं। शृंगार के सम्भोग और वियोग, करुण तथा शान्त रस के प्रसंग में माधुर्य गुण निरन्तर विकसित होता है।

जयदेव का मत उपर्युक्त मत से कुछ भिन्न प्रतीत होता है। उनके अनुसार जहाँ पुन रुक्तपद से बदकर चमत्कारी अर्थ की प्रतीति हो, वहाँ माधुर्य गुण होता है।[२] परन्तु इसकी क्रमिक अनुभूति की प्रगाढ़ता के विषय में यह भी विश्वनाथ और मम्मट के मत से सहमत हैं कि शृंगार, करुण और शान्तरस में इसका सर्वश्रेष्ठ निदर्शन होता है

आनन्दवर्धन ने इस विषय में मम्मट और विश्वनाथ की भाँति अपने विचार प्रकट किए हैं, परन्तु उन्होंने माधुर्य का आश्रय शृंगार ही माना है। पश्चात् भेद करके वियोग शृंगार और करुण में अधिक माधुर्य गुण माना है, क्योंकि इस रस में मन अधिक आर्द्रता को प्राप्त हो जाता है।[3] जगन्नाथ माधुर्य का लक्षण करते हुए लिखते हैं कि जिस पद में सन्धि और समास अधिक न हों तथा असंयुक्त वर्णों की प्रधानता हो, उस पदबन्ध में माधुर्य गुण होता है।[४]

१— चित्तद्रवीभावमयो, राह्लादोमाधुर्यमुच्यते।
सम्भोगे करुणे विप्रलम्भे शान्तेऽधिकं क्रमात्॥
(साहित्यदर्पण—८/१)

२— माधुर्य पुनरुक्तस्य वैचित्र्यं चारुतावहम्।
(चन्द्रालोक—५/६ का पूर्वार्द्ध)

३— शृंगार एव मधुराः परः प्रहलादनो रसः।
तन्मयं काव्यमाश्रित्य माधुर्यं प्रतितिष्ठति॥
शृंगारे विप्रलम्भाख्ये करुणे च प्रकर्षवत्।
माधुर्यमार्द्रतां याति यतस्तत्राधिकं मनः॥
(ध्वन्यालोक—२/७ एवं ८)

४— संयोगपरहस्वातिरिक्तवर्णघटितत्वे सति पृथक्पदत्वं माधुर्यम्।
(रसगंगाधर—१/२३० पृ०)

भोजराज ने माधुर्य को शब्द गुण और अर्थगुण दोनों में गिनाया है। उन्होंने लिखा है कि वाक्यों में पदों की जो अलग-अलग स्थिति होती है, उसका नाम माधुर्य है।[1] भोजराज के अर्थगुण के अन्तर्गत गिनाए गए माधुर्य गुण की परिभाषा अग्निपुराण की परिभाषा के अधिक निकट है। अग्निपुराण में भी माधुर्य को अर्थगुण ही माना है, भोजराज के अनुसार क्रोध आदि के वर्णन में तीव्रता का न होना माधुर्य नामक अर्थगुण है।[2]

दण्डी ने माधुर्य का लक्षण बतलाते हुए उसे इसके निकट रखा है। जिस प्रकार भ्रमर पुष्पासव से मत्त हो उठते हैं, उसी भाँति शब्दार्थजन्य आल्हादातिरेक से सहृदयगण आनन्दित और मत्त हो उठें उसे ही रस कहा जाता है और वही माधुर्य गुण है, क्योंकि रसवत् वाक्य को मधुर कहा जाता है। फलतः रस तथा माधुर्य एक ही वस्तु है।[3] भरत मुनि ने माधुर्य को शब्दगुण स्वीकार करते हुए लिखा है कि पहले से सुना हुआ वाक्य बारंबार सुनने पर जहाँ श्रोताओं में कुछ भी उद्वेग उत्पन्न न हो, उसे माधुर्य गुण कहते हैं।[4]

संविधान

अग्नि पुराण में अर्थ गुणों के सन्दर्भ में संविधान नामक गुण का उल्लेख किया गया है। अन्य आलंकारिकों एवं समालोचकों ने इस नाम के किसी गुण का उल्लेख नहीं किया है। यहाँ तक भोजराज ने सरस्वती कण्ठाभरण में काव्य के २४ गुण गिनाए हैं, परन्तु उन्होंने भी संविधान नाम के गुण की चर्चा नहीं की है। अग्निपुराण में संविधान गुण की परिभाषा देते हुए लिखा गया है कि यदि किसी इष्ट कार्य की सिद्धि में किसी अमानवीय शक्ति

१— या पृथक्पदता वाक्ये तन्माधुर्यमिति स्मृतम्।
(सरस्वतीकण्ठाभरण—१/६७ का पूर्वार्द्ध)

२—माधुर्यमुक्तमाचार्यैः क्रोधादावप्यतीव्रता।
(सरस्वतीकण्ठाभरण—१/८० का पूर्वार्द्ध)

३— मधुरं रसवदवाचि वस्तुन्यापि रसस्थितिः।
येन माद्यान्ति धीमन्तो मधुमेव मधुव्रताः॥
(काव्यादर्श—१/५१)

४— बहुशो यच्छ्रुतं वाक्यं उक्त्वापि पुनः पुनः।
नोद्विजयति यस्माद्धि तन्माधुर्यामिति स्मृतम्॥
(नाट्यशास्त्र—१७/१०२)

का प्रयोग किया जाय और उससे कार्य सिद्ध हो जाय तो संविधान गुण होता है।[१] यह कार्य अद्भुत रस की प्रक्रिया के समान है। इस रस के वर्णन में संविधान गुण विशेष उपयुक्त रहता है। इस गुण के निबन्ध में इष्ट देवताओं के अद्भुत कार्य कलाप एवं राक्षसों के मायावी चरित्र का वर्णन रहता है। अतएव अद्भुत रस में संविधान-गुण का अन्तर्भाव हो जाता है।

कोमलता

अग्निपुराण में अर्थगुण के अन्तर्गत कोमलता को महत्वपूर्ण स्थान दिया गया है। अग्निपुराण के अनुसार जिस सन्दर्भ में क्लिष्टता आदि का त्याग किया गया हो, जहाँ पर शब्द का नियोजन प्रयास पूर्वक न किया गया हो अपितु स्वाभाविक प्रवाह हो तथा जिसमें स्वाभाविक मृदुता का समावेश हो, वहाँ पर कोमलता नामक गुण रहता है।[२] जगन्नाथ के अनुसार जहाँ पर अर्थों के अन्वय का शीघ्र ज्ञान हो जाय, वहाँ पर अर्थव्यक्ति नामक गुण होता है।[३] अग्निपुराण में अर्थव्यक्ति को अलग से कोई स्थान नहीं दिया गया है। अतएव वर्णन क्रम को देखते हुए ऐसा प्रतीत होता है कि अग्निपुराण का कोमलता गुण अर्थव्यक्ति और कान्ति का मिला-जुला रूप है। पण्डितराज जगन्नाथ ने कान्ति का लक्षण देते हुए लिखा है कि अप्रचलित वैदिक प्रयोग योग्य पदों का परिहार करके, लोक प्रचलित पदों के प्रयोग में जो लोकोत्तर शोभा रूप उज्जवलता होती है, उसका नाम कान्ति है।[४] मम्मट ने अर्थव्यक्ति को प्रसाद गुण के अन्तर्गत माना है। अतः यह कहना

१— संविधानपरिकरः स्यादपेक्षित सिद्धये।
(अग्निपुराण ३४७/१३ का उत्तरार्द्ध)

२— यत्काठिन्यादि निर्मुक्तसंनिवेशविशिष्टता।
तिरस्कृत्यैव मृदुता भाति कोमलतेति सा॥
(अग्नि पुराण—३४६/१४)

३— झटिति प्रतीयमानार्थान्वयकत्वमर्थव्यक्तिः।
(रसगंगाधर—१।२३२ पृ०)

४— अविदग्धवैदिकादिप्रयोगयोग्यानां पदानां परिहारेण
प्रयुज्यमानेषु पदेषु लोकोत्तरशोभारूपमौज्जवल्यं कान्तिः।
(रसगंगाधर—१।२३५ पृ०)

समचीन होगा कि कोमलता नामक गुण पर प्रसाद गुण की छाया है। अग्नि पुराण में शब्दार्थ गुणों के अन्तर्गत प्रसाद गुण को स्वीकार किया गया है।

उदारता

उदारता नामक अर्थगुण की परिभाषा देते हुए अग्निपुराण में लिखा है कि जिस रचना में प्रमुखतया स्थूल लक्ष्य को ही प्रकट करने की प्रवृत्ति रहती है तथा जिसमें मूल वर्णनीय वस्तु का सौष्ठव स्पष्ट परिलक्षित होता है वहाँ पर उदारता नामक गुण मानना चाहिए।[1] भोजराज उदारता नामक अर्थगुण के अन्तर्गत किसी की सम्पत्ति का लोकातिशायी प्रकर्ष चित्रित करना मानते हैं।[2]

पण्डितराज जगन्नाथ के मत से ग्राम्य वचनों का परिहार ही उदारता नामक गुण है। जिन शब्दों को परिगणना की तृतीय कोटी में रखा जाता है उनका विज्ञजनों के द्वारा प्रयोग न किया जाना ही काव्य में उदारता नामक अर्थगुण हो सकता है।

दण्डी के अनुसार जिस वाक्य द्वारा वर्णनीय वस्तु के लोकोत्तर चमत्कार की अवगति हो, उसमें उदारता नामक अर्थगुण होता है। उससे काव्यमार्ग सफल होता है।[3] काव्य का प्रयोजन चमत्कार ही माना जाता है। उदारता से चमत्कार का पोषण होता है। अतः उदारता को काव्य का जीवन माना गया है।

प्रौढि

जैसा इसके नाम से ही स्पष्ट है, प्रौढि उक्तियों से युक्त काव्य को प्रौढि नामकगुण से युक्त माना जाता है। अग्निपुराण के अनुसार जिस वाक्य रचना

१— लक्ष्यतेस्थूललक्षत्वप्रवृत्तेर्यत्र लक्षणम्।
गुणस्य तदुदारत्वमाशयस्यति सौष्ठवम्॥
(अग्निपुराण—३४६।१५)

२— भूत्युत्कर्ष उदारता।
(सरस्वतीकण्ठाभरण—१।८१ का उत्तरार्द्ध)

३— उत्कर्षवान् गुणः कश्चिद्यस्मिन्नुक्ते प्रतीयते।
तदुदाराह्वयं तेन सनाथा काव्यपद्धतिः॥
(काव्यादर्श—१/७६)

में अपने अभीष्ट अर्थ का प्रतिपादन करने के लिए प्रौढ़ तथा न्यायोचित उक्तियों का प्रयोग किया जाता है उसमें प्रौढि नामक गुण होता है।[१]

जिन समालोचकों ने काव्य में दस गुणों को स्थान दिया है उन्होंने प्रौढि नामक काव्यगुण का उल्लेख नहीं किया है। भोजराज ने अपने ग्रन्थ में प्रौढि नामक गुण का उल्लेख करते हुए शब्दगत प्रौढि और अर्थगत प्रौढि दो विभाग किए हैं। इसमें प्रौढि नामक शब्दगुण की परिभाषा अग्निपुराण की परिभाषा के समान है। उनके अनुसार जिस काव्य में वाक्य की गम्भीर परिपक्वता दृष्टिगोचर होती है, उसमें प्रौढि गुण समझना चाहिए।[२] भोजराज ने इसे अर्थगुण भी माना और उसकी परिभाषा देते हुए लिखा है कि जिस काव्य में कवि की अभीष्ट वस्तु का निर्वाह यथावत् वर्णन् द्वारा किया जाये, उसे प्रौढि गुण युक्त समझना चाहिए।[3]

पण्डितराज जगन्नाथ ने प्रौढि गुण का उल्लेख करते हुए लिखा है कि वर्णन की विचित्रता एवं निपुणता और विशेषणों का सटीक प्रयोग पौढि गुण की आधार शिला है।[४] प्राचीन आलंकारिकों ने इसे ओजगुण के अन्तर्गत स्थान दिया है और विशेषणों का सप्रयोजन होना प्रौढि गुण का लक्षण माना है। अतः इसे ओज गुण में ही समाहित करना चाहिए। जयदेव ने लिखा है कि संक्षेप में या विस्तार में जब काव्य में विशिष्ट वर्णन होता है तो अर्थ की प्रौढि ओज है।[५]

१— अभिप्रेतं प्रतिहतं निर्वाहस्योपपादिकाः।
युक्तयो हेतुगर्भिण्याः प्रौढा प्रौढिरुदाहृता॥
(अग्निपुराण—३४६/१६)

२— उक्तिः प्रौढः परीपाकः प्रोच्यते प्रौढिसंज्ञया।
(सरस्वतीकण्ठाभरण—१/७७ का पूर्वार्द्ध)

३— विवक्षितार्थनिर्वाहः काव्ये प्रौढिरिति स्मृता॥
(सरस्वतीकण्ठाभरण—१/८८ का उत्तरार्द्ध)

४— प्रौढिप्रतिपादनवैचित्र्यम्।
(रसगंगाधर—१ पृ० २४३)

५— ओजः स्यात्प्रौढिरर्थस्य सक्षेमो वातिभूयसः।
(चन्द्रालोक—४/७ का पूर्वार्द्ध)

सामयिकत्व

जिस पद के अर्थ में बाह्य और आन्तरिक सहयोग समान रूप से स्थापित हो सके, वहाँ पर सामयिकत्व नामक गुण होता है, क्योंकि यह अर्थगुण है। अतएव अर्थ का बाह्य और आन्तरिक सामंजस्य अत्यावश्यक है। यदि इस बाह्य और आन्तरिक का अर्थ प्रस्तुत और अप्रस्तुत कर दिया जाये तो वामन और दण्डी द्वारा उद्धृत समाधि गुण के यह निकट आ जाये। आलंकारिकों ने समाधि गुण को अत्यधिक महत्त्वपूर्ण माना है और उसे काव्य के उत्कर्ष का कारण बतलाया है। अग्निपुराण में समाधि नामक गुण की अलग से तो चर्चा नहीं की गई है परन्तु सामयिकत्व गुण की समाधि गुण की परिभाषा के अनुरूप है। दण्डी ने समाधि गुण का लक्षण तथा महत्व बतलाते हुए लिखा है कि लोकसीमा के पालन में तत्पर कवि द्वारा जब अप्रस्तुत वस्तु के धर्म प्रस्तुत वस्तु पर आरोपित किये जाते हैं तब समाधि गुण होता है। इस प्रकार वर्णित समाधि नामक गुण काव्य में चमत्कार उत्पन्न करने के कारण काव्य का जीवन है। अतः अवश्य उपादेय है तथा सभी मत के समर्थक कवि इसे अपनाते हैं।[1]

शब्दार्थगुण

अग्निपुराण में शब्द गुण और अर्थगुणों का अलग अलग विश्लेषण कर उन दोनों गुणों के समन्वय-रूप उभयगुण का प्रतिपादन कर उसका महत्व प्रतिपादित किया गया है। जो शब्द और अर्थ का समान रूप से उपकार करते हैं, उन्हें उभयगुण कहा जाता है। गुणों के नाम हैं प्रसाद, सौभाग्य, यथासंख्य, प्रशस्ति, पाक और राग।[2]

१— अन्यधर्मस्ततोऽन्यत्र लोकसीमानुरोधिना।
सम्यगाधीयते यत्र स समाधिस्मृतो यथा॥
तदेतत्काव्यसर्वस्वं समाधिर्नाम यो गुणः।
कविसार्थः समग्रोऽपि तमेनमनुगच्छति॥
(काव्यादर्श—१/९३ एवं १००)

२— शब्दार्थावुपकुर्वाणौ नाम्नोभयगुणः स्मृतः।
तस्य प्रसादः सौभाग्यं यथासंख्यप्रशस्यता॥
पाको रागप्राज्ञैः षट् प्रपंचविपंचिता।
(अग्निपुराण—३४६/१८ एवं १९ का पूर्वार्द्ध)

प्रसाद

इन उभयगुणों में प्रसाद गुण सर्वश्रेष्ठ है। मम्मट, विश्वनाथ और आनन्द वर्धन इत्यादि ने काव्य के तीन गुण माने हैं—ओज, प्रसाद और माधुर्य। उन्होंने प्रसाद को बहुत अधिक महत्त्व दिया है। अग्निपुराण में प्रसाद की परिभाषा देते हुए लिखा है कि जिस काव्य में अति प्रसिद्ध अर्थ वाली पदावली का प्रयोग किया गया हो, जिसमें अर्थग्रहण में तनिक भी कठिनाई न हो, अपितु अर्थ स्वयं प्रतिबिम्बित हो उसे प्रसाद गुणयुक्त काव्य कहेंगे।[१] भरतमुनि के अनुसार जहाँ सहृदयों को अर्थग्रहण में कठिनाई न हो, अपितु अर्थ अनुक्त ही स्वयं प्रतिबिम्बित हो जाये, उसे प्रसाद गुण कहते हैं।[२]

जयदेव ने प्रसादगुण की परिभाषा देते हुए लिखा है कि जिस प्रकार जल में पड़ी हुई वस्तु स्वयमेव बाहर से दिखलाई पड़ती है, उसी प्रकार काव्य में प्रतिपाद्य अर्थ विना कठिनाई एवं प्रयास के सरलता से समझ में आ जाए, वहाँ पर प्रसाद गुण होता है।[३] प्रसादगुण में अर्थग्रहण में दूरूहता नहीं आती है, जैसे द्राक्षा का रस बाहर से प्रतिबिम्बित होता है, उसी प्रकार प्रसादगुण-युक्त काव्य का अर्थ अनायास समझ में आता है।

विश्वनाथ के अनुसार जिस प्रकार सूखी लकड़ी में अग्नि विना प्रयास के व्याप्त हो जाती है, उसी प्रकार सहृदयों के हृदय में प्रसादगुण-युक्त काव्य व्याप्त हो जाता है।[४] मम्मट की परिभाषा में उपर्युक्त दोनों परिभाषाओं का सम्मिश्रण है। उन्होंने लिखा है कि जिस प्रकार इन्धन में अग्नि तथा स्वच्छ

३— सुप्रसिद्धार्थमदता प्रसाद इति गीयते।

(अग्निपुराण—३४६/१९ का उत्तरार्द्ध)

४— अप्यनुक्तो बुधैर्यत्र शब्दार्थो वा प्रतीयते।
सुखशब्दार्थसम्बोधात् प्रसादः परिकीर्त्यते॥

(नाटयशास्त्र—१७/९५)

१— यस्मादन्तःस्थितः सर्वः स्वयमर्थोऽवभासते।
सलिलस्येव सूक्तस्य, स प्रसाद इति स्मृतः॥

(चन्द्रालोक—४/३)

२— चित्तं व्याप्नोति यः क्षिप्रं शुष्केन्धनमिवानलः।
स प्रसाद समस्तेषु रसेषु रचनासु च॥

(साहित्यदर्पण—६/७)

वस्त्र में जल सहसा व्याप्त हो जाता है, उसी प्रकार प्रसाद गुण सहसा चित्त में व्याप्त हो जाता है। यह गुण सब रसों एवं सब रचनाओं में स्थित रहता है।[1]

प्रसादगुण चित्तविकास का जनक है। इस गुण के होने से रस तुरन्त व्याप्त हो जाता है वीर और रौद्र इत्यादि रस में तो शुष्क इन्धन में अग्नि के समान तथा श्रृंगार और करुण में स्वच्छ वस्त्र में जल के समान व्याप्त हो जाता है। प्रसाद गुण समस्त रसों का धर्म है तथा सभी रस इसके आधार हैं। इसी प्रकार समस्त रचनाएं इसकी व्यंजक हो सकती हैं।

दण्डी के अनुसार प्रसादगुण-युक्त काव्य के श्रवणमात्र से शब्द अपना अर्थ प्रकट कर देते हों।[2] प्रसादगुण-युक्त वाक्य-रचना सर्वदा निहितार्थत्वादि दोष से रहित होती है। भरत के अनुसार जहाँ पर विद्वानों के द्वारा बिना प्रयास शब्दार्थ स्वयं प्रकट हो जाए तथा जिसमें सुखकर शब्दार्थों का संयोग हो, उसे प्रसादगुणयुक्त काव्य कहना चाहिए।[3] प्रसाद-गुण के लक्षण के विषय में सभी आलंकारिक प्रायः एक मत हैं। पण्डितराज जगन्नाथ के अनुसार अर्थवैमल्य का नाम प्रसाद है। जितना अर्थ हो उतने ही पदों का होना उससे न्यून व अधिक न होना प्रसादगुण कहलाता है।[4] इस प्रकार इस रीति में निरर्थक पदों का निराकण कर दिया गया है। आनन्दवर्धन के अनुसार जो काव्य सहृदय के चित्त में अतिशीघ्र प्रवेश कर जाये, वही समस्त रसों और रचनाओं में रहने वाला प्रसादगुण है।[5]

१— शुष्केन्धनाऽग्निवत् स्वच्छजलवत्सहसैव यः।
व्याप्नोत्यन्यत्प्रसादोऽसौ, सर्वत्र विहितस्थितिः॥
(काव्यप्रकाश—८/७०)

२— प्रसादवत् प्रसिद्धार्थमिन्दोरिन्दीवरद्युतिः।
(काव्यादर्श—१/४५ का पूर्वार्द्ध)

३— अप्यनुक्तो बुधैर्यत्र शब्दार्थः प्रतीयते।
सुखशब्दार्थसंयोगात् प्रसादः परिकीर्त्यते। (नाट्यशास्त्र—१७/९९)

४— यावदर्थकपदत्वरूपमर्थवैमल्यं प्रसादः।
(रसगंगाधर १।पृ० २३८)

५— समर्थकत्व काव्पस्य यत्तु सर्वरसान् प्रति।
स प्रसादगुणो ज्ञेयः सर्वसाधारणक्रियः॥
(ध्वन्यालोक—१।७९ का पूर्वार्द्ध)

भोजराज के अनुसार बिना कहे अर्थ स्पष्ट प्रकट हो जाता है, उसे अर्थ प्रसादगुण कहते हैं।[1] वास्तव में अर्थ की विमलता प्रसाद-गुण है। कथनीय वस्तु का शब्दश: उल्लेख न करके भी इस ढंग से वाक्य योजना कर देना कि अभीष्ट स्वत: उससे प्रकट हो जाए, प्रसाद गुण है।

सौभाग्य

सौभाग्य कोई गुण स्वतन्त्र सा प्रतीत नहीं होता, अपितु किसी उत्कृष्ट गुण के सम्यक् समावेश का अनुभव होता है, उसे सौभाग्य गुण कहते हैं। अग्निपुराण के अनुसार जिस उक्ति में उत्कर्ष युक्त गुण का उल्लेख हो उसे सौभाग्य गुण कहते हैं। मनीषी इसे उदारता भी कहते हैं।[2]

अग्निपुराण में पहिले उदारता को शब्दगुण में स्थान दिया गया है। फिर अर्थगुण में तथा अन्त में उभयगुण के अन्तर्गत सौभाग्य गुण कहकर उदारता गुण का प्रतिपादन किया है। बुद्धिमान् इसे उदारता भी कहते हैं, ऐसा कहकर उन्होंने अपने कथन का स्पष्टीकरण किया है।

यथासंख्य

यथासंख्य गुण भी कोई विशेष महत्वपूर्ण स्वतन्त्र गुण नहीं है, क्योंकि अग्निपुराण में उसका कोई विशेष लक्षण न देकर केवल सामान्य रूप से प्राप्त गुण को यथासंख्य कहते हैं।[3] जिस प्रकार यथासंख्य अलंकार में क्रमिक वर्णन की आवृत्ति से सौन्दर्य उत्पन्न हो जाता है, उसी प्रकार यथासंख्य नामक गुण में भी सामान्य रूप से प्राप्त गुणों में सौन्दर्य का उत्कर्ष देखा जा सकता है।

प्रशस्ति

प्रशस्ति का शाब्दिक अर्थ है प्रशंसा। इस गुण का निबन्धन करना वास्तव में प्रशंसनीय कार्य है। अग्निपुराण के अनुसार जब कठोर विषय का

१—यत्तु प्राकटयमर्थस्य प्रसाद: सोऽभिधीयते।
(सरस्वतीकण्ठाभरण—१/७९ का पूर्वार्द्ध)

२—उत्कर्षवान्गुण: कश्चिद्यस्मिन्नुक्ते प्रतीयते।
तत्सौभाग्यमुदारत्वं प्रवदन्ति मनीषिण:॥
(अग्निपुराण—३४६/२०)

३— यथासंख्यमनुद्देश: सामान्यमतिदिश्यते।
(अग्निपुराण—३४६/२१ का पूर्वार्द्ध)

वर्णन कोमल वर्णों द्वारा किया जाये, तब प्रशस्ति नामक गुण मानना चाहिए।[1]

भोजराज ने कठोर वर्णन को कोमल शब्दों द्वारा वर्णन करने को माधुर्य गुण माना है। क्रोध आदि के वर्णन में तीव्रता का होना ही आचार्यों के द्वारा माधुर्य गुण कहा गया है।[2] यदि प्रशस्ति गुण के केवल नाम पर जायें तो यह भोजराज के प्रेयगुण के निकट होगा जिसकी परिभाषा देते हुए उन्होंने कहा है कि दूसरों को अत्यन्त अच्छी लगनेवाली बातों का निबन्धन प्रेयगुण है।[3]

लोक में प्रायः ऐसा देखा जाता है कि जैसा भाव होता है, वैसी ही वाणी निकलती है। यदि क्रोध है तो पुरुष वाणी निकलेगी और यदि प्रेम है तो कोमल वाणी। अतः कहा जाता है कि जैसा रस होगा, वैसा ही शैली का घटन होगा। प्रशस्ति नामक गुण की यही विशेषता है कि कठोर वर्णन को भी कोमल शब्दों द्वारा प्रकट किया जाता है। अन्य आलंकारिकों ने प्रशस्ति नामक गुण को अलग से स्थान नहीं दिया है, क्योंकि श्रुतिकटुत्व दोष का निराकरण कोमल शैली का करण होता है। अतएव उक्त गुण को श्रुतिकटुत्व दोष का निराकरण मात्र समझना चाहिए।

पाकगुण

अग्निपुराण में दो और विलक्षण गुणों का वर्णन किया गया है। प्रथम पाकगुण[4] और द्वितीय रागगुण। जब किसी वर्णन की उच्च परिणति होती है, तब उसे पाक गुण कहा जाता है। अन्य आलंकारिकों ने इसे अतिरिक्त गुण मानना उचित नहीं समझा।

१— समये वर्णनीयस्य दारुणस्यापि वस्तुनः।
अदारुणेन शब्देन प्राशस्त्यमुपवर्णनम्॥
(अग्निपुराण—३४६/२१ का उत्तरार्द्ध एवं २२ का पूर्वार्द्ध)

२— माधुर्ययुक्तमाचार्यैः क्रोधादावप्यतीव्रता।
(सरस्वतीकण्ठाभरण—१/८० का पूर्वार्द्ध)

३— प्रेयः प्रियतराख्यानं चाटुक्तौ यद्विधीयते॥
(सरस्वतीकण्ठाभरण—७१ का उत्तरार्द्ध)

४— उच्चैः परिणतिः कापि पाक इत्यभिधीयते।
(अग्निपुराण–३४६।२२ का उत्तरार्द्ध)

पाक के अग्निपुराण में चार भेद वर्णित हैं, मृद्वीकपाक, नारिकेल पाक और अम्बुपाक। चारों प्रकार का नामोल्लेख मात्र कर मद्वीकपाक की परिभाषा देते हुए लिखा है कि जहाँ आरम्भ से अन्त तक सरसता बनी रहती है, वहाँ पर मृद्वीक पाक होता है।[1] पाक के उपर्युक्त लक्षण को देखकर प्रतीत होता है कि यह भोजराज के समता नामक अर्थगुण के समान है। उन्होंने लिखा है कि यहाँ पर वर्ण्यमान विषय में क्रमबद्धता भंग न हो तथा आरम्भ से अन्त तक एक ही प्रकार की समरसता बनी रहे, वहाँ पर समत्व नामक गुण मानना चाहिए।[2] यद्यपि नारिकेल पाक और अम्बुपाक की अग्निपुराण में कोई परिभाषा नहीं दी गई है, परन्तु जैसा इसके नाम से स्पष्ट है—कठोर विषयों के सम्यक् परिपाक को नारिकेल कहा गया होगा और कोमल वर्णन के उच्चतम परिपाक को अम्बुपाक कहा गया होगा।

रागगुण

राग गुण की चर्चा केवल अग्निपुराण में प्राप्त होती है। यदि काव्य परम्परानुसार कोई गुण विशेष रूप से प्राप्त हुआ हो, तब उस स्थल पर राग गुण समझना चाहिए। इस गुण में विशेष क्रान्ति विद्यमान रहती है।[3] रागगुण के भेद करते हुए उसके तीन भेद प्रदर्शित किए गए हैं। हारिद्र, कौसुम्भ और नीलीराग।[4] रंगों के वर्णों के अनुसार इनके गुण समझे जा सकते हैं। हारिद्र पीले रंग तथा कौसुम्भ नारंगी रंग की ओर संकेत करते हैं। अद्भुत रंग का वर्ण पीत है। अतः जिस वर्णन में अद्भुत रस का वर्णन विशेष रूप से प्राप्त हो, उसे हारिद्र और कौसुम्भ राग समझना चाहिए।

१— मृद्वीका नारिकेलाम्बुपाकभेदाच्चतुर्विधः।
आदावन्ते च सौरस्यं मृद्वीकपाक एव सः॥
(अग्निपुराण–३४६।२४)

२— अवैषम्यं क्रमवतां समत्वमिति कीर्तितम्।
(सरस्वती-कण्ठाभरण–१।७९ का उत्तरार्द्ध)

३— काव्येच्छया विशेषो यः स राग इति गीयते।
अभ्यासोपहितं कान्ति सहजामपि वर्तते॥
(अग्निपुराण–३४६।२५)

४— हारिद्रश्चैव कौसुम्भो नीलीरागश्च स त्रिधा।
(अग्निपुराण–३४६।२६ का पूर्वार्द्ध)

इसी प्रकार बीभत्स रस का रंग नीला है। अतएव जिस वर्णन में बीभत्स रस विशिष्ट वर्णन के रूप में आया हो, उसे नीली राग समझना चाहिए।

ऐसा प्रतीत होता है कि अग्निपुराण में रागगुण गिनाया तो है परन्तु स्वयं उसको कोई महत्त्व नहीं दिया गया है, क्योंकि राग के प्रकारों की परिभाषा आदि उसमें उल्लिखित नहीं है।

वैशेषिक गुण

वैशेषिक गुण सभी गुणों की मिली-जुली विशेषता है। अग्निपुराण के अनुसार यदि कोई विशिष्ट गुण किसी विशिष्ट रचना में व्यक्तिगत रूप से रहते हैं तो वे वैशेषिक गुण कहलाते हैं।[१]

सबसे पहले अग्निपुराण में गुण, गुण के सामान्य प्रकार और विशेष प्रकार, पश्चात् सामान्य के उपर्युक्त भेद, प्रभेद वर्णित किए गये हैं और अन्त में विशेष गुण की परिभाषा दी गई है। इस प्रकार विशेष के वही सब प्रकार हैं, जो सभी प्रकार की रचना में प्राप्य होते हैं। जो सामान्य गुण विशेष रचना में विशेष रूप से प्राप्त होते हैं, वे विशेष गुण कहलाते हैं।

भोजराज ने अपने काव्य में वैशेषिक गुण की चर्चा की है, इनके अनुसार एक प्रकार के गुण और होते हैं, जिनको वैशेषिक गुण कहा जाता है। ये होते तो वस्तुतः दो ही हैं, परन्तु दोषों की भाँति मुख्यार्थ का बाध न कर पाने के कारण गुण हो जाया करते हैं। अतएव इनका एक नाम दोषगुण भी है। भोजराज ने दोषगुण की परिभाषा देते हुए लिखा है कि पद आदि पर आश्रित दोषों में जो अनुकरण आदि करने पर सदा गुणत्व प्राप्त कर लेते हैं, वे इस प्रसंग में दोषगुण के नाम से गिनाये गए हैं।[२] जयदेव ने ऐसी स्थितियों को जिनमें दोष दोष नहीं रहते, उनके गुण कर्तृत्व को दोषांकुश

१— वैशेषिकः परिज्ञेयो यः स्वलक्षणगोचरः।
(अग्निपुराण—३४६।२६ का पूर्वार्द्ध)

२— पदाद्याश्रितदोषाणां ये चानुकरणादिषु।
गुणत्वापत्तये नित्यं ते न दोषगुणाः स्मृताः॥
(सरस्वती-कण्ठाभरण—१।८९)

नाम से अभिहित किया है।[1] इन्हीं गुणों को अग्निपुराण में वैशेषिक नाम से सम्बोधित किया गया है।

१— दोषमापतितं स्वान्ते प्रसरन्तं विश्टंखलम् ।
निवारयति यस्त्रेधा दोषांकुशमुशन्तितम् ॥
दोषो गुणत्वं तनुते दोषत्वं वा निरस्यति ।
भवन्तमथवा दोषं नयत्यत्याज्यतामसौ ॥

(चन्द्रालोक-२।४०-४२)



काव्य-दोष-विवेचन

जिस प्रकार काव्य के उत्कर्ष को बढ़ाने में गुण का महत्त्व है, उसी प्रकार काव्य के अपकर्ष का कारण दोष है। जिन काव्य-तत्त्वों से सहृदय पाठकों को उद्वेग होता है, उसे काव्य-दोष कहते हैं। विश्वनाथ के अनुसार रस के अपकर्षक दोष कहलाते हैं।[1] जो काव्य के आतमतत्व रस में विघ्न उत्पन्न करने वाले हैं, उन्हें दोष की संज्ञा दी गई है। मम्मट के कथनानुसार, जिससे मुख्यार्थ का अपकर्ष होता है, वह दोष कहलाता है। रस के द्वारा उपकारक रूप में अपेक्षित होने के कारण शब्दबोध अर्थ भी मुख्य कहलाता है। रस तथा अर्थ के उपकारक शब्द होते हैं। अतएव इनमें से किसी में भी अपकर्ष उत्पन्न करने वाले तत्त्व दोष हैं।[2] मम्मट का दोष का लक्षण व्यापक है। आगे चलकर आलंकारिकों ने इसे अपनाया।

रसविवेचन का मुख्य उद्देश्य था कि कवि काव्य-दोषों से परिचित हो जायें तथा काव्य में उनका परित्याग करने का प्रयत्न करें। आचार्यों ने क्या होना चाहिए इसका वर्णन तो बाद में किया है, किन्तु क्या नहीं होना चाहिए, इसका वर्णन पहिले किया है। इसमें मम्मट, भरतमुनि, भोजराज एवं जयदेव उल्लेखनीय हैं। इन आचार्यों ने पहिले काव्य-दोषों की चर्चा की है, पश्चात् काव्य-गुणों की। भोजराज ने जितनी अधिक सत्काव्य के कारण कवि के यश की प्रशंसा की है, उतनी ही दुष्काव्य के कारण अपकीर्ति की निन्दा की है। उनके अनुसार जो कवि पदों, वाक्यों तथा वाक्यार्थों के दोषों को त्याज्य अथवा हीन होने से अग्रहणीय समझता हो, उसे ही कवि कर्म में प्रवृत्त होना चाहिए।[3] यही कारण है कि इन्होंने काव्यलक्षण आरम्भ

१— रसापकर्षका दोषाः।

(साहित्यदर्पण—७।१ श्लोक का प्रथम पद)

२— मुख्यार्थहति र्दोषो रसश्च मुख्यस्तदाश्रयाद्वाच्यः।
उभयोपयोगिन स्युः शब्दाद्यास्तेन तेष्वपि सः॥

(काव्यप्रकाश—७।७१ कारिका)

३— एवं पदानां वाक्यानां, वाक्यार्थानां च यः कविः।
दोषान्हेयतया वेत्ति स काव्यं कर्तुमर्हति॥

(सरस्वती-कण्ठाभरण—१।४८)

करते ही "अदोष" शब्द पर सर्व प्रथम बल दिया। अग्नि पुराण के अनुसार काव्यदोष वक्ता, वाचक और वाच्य के भेद से सात प्रकार का होता है।[1]

दण्डी के अनुसार काव्य में दोषों से बचकर और गुणालङ्कारादि से युक्त करके प्रयोग की गई वाणी विद्वानों के द्वारा कामधेनु के समान कलाभिमतार्थ-दात्री कही गई है और वही वाणी यदि दुष्प्रयुक्ता स्वर, वर्णमात्रादि अवगुण से युक्त होती है तो प्रयोग कर्ता की अविदग्धता प्रकट करती है। जैसे यदि सुन्दर शरीर में एक ही कुष्ठ का धब्बा हो तो सारा शरीर उपेक्षणीय हो जाता है, इसी प्रकार काव्य का एक भी अवगुण उसे सहृदयों के लिए त्याज्य बना देता है।[2]

दोषों की संख्या

भिन्न-भिन्न आचार्यों ने काव्यदोषों के विभिन्न लक्षण दिए हैं। अग्निपुराण में काव्यदोषों का विस्तृत विवेचन किया गया है। पुनश्च उसके और भी भेद-प्रभेद स्थापित किए हैं गए। प्रथम प्रकार का वक्तृदोष कवि की ओर से होता है। ये दोष संदिहान, अविनीत, सन्नज्ञ तथा ज्ञाता नाम से विख्यात हैं।

अग्निपुराण में इस प्रकार मुख्य भेद बतलाकर उनके निहित उपभेदों को बतलाया गया है। इस प्रकार उनके दोषों का वर्णन अधिक विशद है। पहिले वक्तृदोष में कवि प्रयुक्त चार दोषों का निरूपण किया गया है। फिर वाचक नामक भेद के पद और वाक्य नामक दो भेद किए गये हैं। पद के असाधुत्व और अप्रयुक्तत्व दो भेद किए। वाक्यदोष पाँच प्रकार के हैं—छान्दसत्व, अविस्पष्ट, कष्टत्व, असामायिकत्व, ग्राम्यत्व। पुनश्च अविस्पष्ट

१— उद्वेगजनको दोषः सम्मानांसन्य सप्तधा।
वक्तृवाचकवाच्यानामेकद्वित्रियोगतः॥
(अग्निपुराण—३४७।१)

२— गौर्गौः कामदुधा सम्यक् प्रयुक्ता स्मर्यते बुधैः।
दुष्प्रयुक्ता पुनर्गोत्वं प्रयोक्तुः सैव पुंसति॥
तदल्पमपि नोपेक्ष्यं काव्ये दुष्टं कथंचन।
स्याद्वपुः सुन्दरमपि श्वित्रेणैकेन दुर्भगम्॥
(काव्यादर्श-१।६ एवं ७)

के तीन भेद किए, गूढ़ार्थता, विपर्यस्तार्थता संशयितार्थता ।[१] ग्राम्यत्व दोष के तीन प्रकार बतलाए हैं—प्रथम ग्रामीण के वचनक्रम का कथन, द्वितीय अन्यवचन से उस कथन का स्मरण तथा तृतीय तत्कथन का तद्वत प्रयोग ।[२]

वाचक दोष दो प्रकार का होता है—साधारण और प्रातिष्ठिक । साधारण दोष के पाँच प्रकार हैं—क्रियाभ्रंश, कारकभ्रंश, विसन्धि, पुनरुक्तता और व्यस्तसम्बन्धिता ।[3]

पुनरुक्त के दो भेद हैं, पदावृत्ति और अर्थावृत्ति । व्यस्त-सम्बन्धिता के तीन भेद हैं, अन्य सम्बन्ध का आभास, अन्य सम्बन्ध का जन्म, इन दोनों के न रहने पर भी अर्थज्ञान में बाधा । अर्थ में प्रयोजनीय होने के कारण वाक्य-दोष दो प्रकार का होता है, पददोष तथा वाक्यदोष ।[४]

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि जितना साङ्गोपाङ्ग वर्णन काव्य दोष का पुराण में प्राप्त है, उतना अन्यत्र नहीं है ।

१— वक्तृवाचकवाच्यानामेदद्वित्रिनियोगतः ॥
तत्र वक्ता कविर्नाम प्रथमें स च भेदतः ।
संदिहानो विनीतः सन्नज्ञो ज्ञाता चतुर्विधः ॥
(अग्निपुराण-३४७।१ का उत्तरार्द्ध एवं)

२— छान्दसत्वमविस्पष्टत्वं च कष्टत्वमेव च ।
तद्सामयिकत्वं च ग्राम्यत्वं चेति पंचधा ॥
गूढ़ार्थता विपर्यास्तार्थता संशयितार्थता ।
अविस्पष्टार्थता भेदाः तत्र गूढार्थतेति सा ॥
अग्निपुराण-३४७।५ का उत्तरार्द्ध, ६ का पूर्वार्द्ध तथा ७

३— अगूढमर्थान्तमर्थहीनं, भिन्नार्थमेकार्थमभिप्लुतार्थम् ।
न्यायादपेतं, विषमं विसन्धि, शब्दच्युतं वैद शकाब्ददोषाः ॥
(नाट्यशास्त्र-१७।८८)

४— दोषः साधारणः प्रातिष्ठकोऽर्थस्य स तु द्विधा ।
अनेकभागुपालम्भः साधारण इति स्मृतः ॥
क्रियाकारकयोर्भ्रंशो विसंधिः पुनरुक्तता ।
व्यस्तसम्बन्धिता चेति पंचसाधारणा मता ॥
(अग्निपुराण—३४७।१३, १४)

प्रायः सभी लक्षणग्रन्थकारों ने एक साथ काव्य दोषों की परिगणना की है। आचार्य भरत ने भेद-रहित काव्य के दोष गिनाए हैं। यथा गूढार्थ, अर्थान्तर, अर्थहीन, भिन्नार्थ, एकार्थ, अभिप्लुतार्थ, न्यायापेत, विषम, विसन्धि तथा शब्दच्युत।

जयदेव ने चन्द्रालोक में मुख्य रूप से नित्य और अनित्य दोष की व्याख्या की है। जो दोष किसी स्थल विशेष में गुणरूप धारण कर लेते हैं, वे अनित्य दोष कहलाते हैं। जो सर्वदा सर्वत्र दोष ही रहते हैं, उन्हें नित्य दोष मानना चाहिए। इसके बाद जयदेव ने बीस पदगत अट्ठारह वाक्य-दोष एवं चौदह अर्थगत दोष बतलाए हैं। जो दोष विशेष शब्द के रहने पर रहे और उस शब्द के न रहने पर न रहे, वह दोष शब्द में रहने वाला माना जाता है। जो दोष उस शब्द-विशेष के न रहने पर भी रहे, वह अर्थगत माना जाता है। साहित्यदर्पणकार ने पाँच दोषों को बतलाया है—पदगत-दोष, पदांशगत-दोष, वाक्यगत-दोष, अर्थगत-दोष और रसगत दोष। पदगत दोष गिनाये हैं विश्वनाथ ने—दुःश्रवत्व, त्रिविध अश्लीलत्व, अनुचितार्थत्व, अप्रयुक्तत्व, ग्राम्यत्व, अप्रतीतत्व, संदिग्धत्व, नेयार्थत्व, निहितार्थत्व, अवाचकत्व, क्लिष्टत्व, विरुद्धमतिकारित्व, अविमृष्टविधेयांशत्व, निरर्थकत्व, असमर्थत्व, च्युतिसंस्कारत्व।[1]

विश्वनाथ ने तेइस अर्थदोषों का परिगणन किया है। यथा अपुष्टत्व, दुष्क्रमत्व, ग्राम्यत्व, व्याहतत्व, अश्लीलत्व, कष्टत्व, अनवीकृतत्व, निहेतुत्व, प्रकाशितविरुद्धत्व, सन्दिग्धत्व, पुनरुक्तत्व, ख्यातिविरुद्धत्व, विद्याविरुद्धत्व, साकांक्षत्व, सहचरभिन्नत्व, अस्थानयुक्तत्व, अविशेषपरिवृत्तत्व, नियम परि-

---

१. रसापकर्षका दोषा ते पुनः पंचधा मताः।
पदे तदंशे वाक्यार्थे सम्भवन्ति रसेऽपि यत्॥
दुःश्रवत्रिविधाश्लीलानुचितार्थ - प्रयुक्तताः।
ग्राम्याप्रतीतसन्दिग्धनेयार्थनिहितार्थताः॥
अवाचकत्वं क्लिष्टत्वं विरूद्धमतिकारिता।
अविमृष्ट - विधेयांशभावश्च पदवाक्ययोः॥
दोषाः केचिद्‌भवन्त्येषु पदांशेऽपि पदे पदे।
निरर्थकासमर्थत्वे च्युतसंस्कारता तथा॥

(साहित्य-दर्पण–७।१, २, ३ और ४)

वृत्तत्व, विध्ययुक्तत्व, अनुवादायुक्तत्व और निर्मुक्तपुनरुक्तत्व ।[१]

रसदोष का निरूपण करते हुए विश्वनाथ ने चौदह नाम बतलाए हैं—रस की स्वशब्दवाच्यता, स्थायीभाव की स्वशब्दवाच्यता, व्यभिचारी भाव की स्वशब्दवाच्यता, प्रवृत्तरसविरुद्ध विभावादि-योजना, अनुभाव की कष्ट-कल्पना, विभाव की कष्टकल्पना, अकाण्ड में रस विस्तार, अकाण्ड में रसच्छेद, पुनः पुनः रस-दीप्ति, अङ्गीरस का अननुसन्धान प्रकृतरस के अनुपकारक का अतिविस्तृत वर्णन, अङ्गभूत रस भावादि का अतिविस्तार, प्रकृतिविपर्यय, अर्थानौचित्य ।[२]

काव्यप्रकाश के अनुसार रस दोष हैं=साक्षात् रसभावादि के अपकर्षक, रसोपकारक वाच्य अर्थात् शब्दबोध्य अर्थ के अपकर्षक, रसादि तथा अर्थ के उपकारक पद। उनके अनुसार श्रुतिकटु च्युतिसंस्कृति, अप्रयुक्त, असमर्थ, निहतार्थ, अनुचितार्थ, निरर्थक, अवाचक (तीन प्रकार का अश्लील व्रीडा, निन्दा एवं अशुभ), सन्दिग्ध, अप्रतीत, ग्राम्य, नेयार्थ, क्लिष्ट, अवि-

---

१— अपुष्टदुष्क्रमग्राम्यव्याहताश्लीलकष्टताः ।
अनवीकृतनिर्हेतुप्रकाशित - विरुद्धता ॥
सन्दिग्धपुनरुक्तत्वेख्यातिविद्याविरुद्धते ।
साकांक्षता सहचरभिन्नताऽस्थानयुक्तता ॥
अविशेषे विशेषश्चानियमें नियमस्तथा ।
तयोर्विपर्ययौ विध्यनुवादायुक्तते तथा ॥
निर्मुक्तपुनरुक्तत्वमर्थदोषाः प्रकीर्तिता, ।
(साहित्यदर्पण-–७।९, १०, ११ एवं १२ का पूर्वार्द्ध)

२— रसस्योक्ति स्वशब्देन स्थायिसंचारिणोरपि ॥
परिपन्थिरसाङ्गस्य विभावादेः परिग्रहः ।
आक्षेपः कल्पितः कृच्छ्रादनुभावविभावयोः ॥
अकाण्डे प्रथमच्छेदौ तथा दीप्तिः पुनः पुनः ।
अङ्गिनो ननुसंधानमनङ्गस्य च कीर्तनम् ॥
अतिविस्तृत - तरङ्गस्य प्रवृतीनां विपर्ययः ।
अर्थानौचित्यमन्यच्च दोषा रसगता मताः ॥
(साहित्यदर्पण—७।१२ का उत्तरार्द्ध १३, १४)

मृष्टाविधेयांश तथा विरुद्धमतिकृत् । ये सोलह पददोष होते हैं ।[१] इनमें च्युत-संस्कृति, असमर्थ और निरर्थक इन तीनों को छोड़कर ऊपर गिनाए शेष तेरह प्रकार के पदांश दोष भी होते हैं । इसी प्रकार वाक्यमात्रगत दोष भी होते हैं ।

भोजराज ने पदों, वाक्यों तथा वाक्यार्थों के सोलह दोष गिनाए हैं यथा असाधु, अप्रयुक्त, कष्ट, अनर्थक, अन्यार्थक, अपुष्टार्थ, असमर्थ, अप्रतीत, क्लिष्ट, गूढ, नेयार्थ, सन्दिग्ध, विरुद्ध' अप्रयोजक, देश्य तथा ग्राम्य ।[२]

पददोष के बाद भोजराज ने सोलह वाक्यदोष गिनाए हैं । यथा शब्द-हीन, क्रमभ्रष्ट, विसन्धि, पुनरुक्तिमत्, व्याकीर्ण, वाक्यसंकीर्ण, या पद, वाक्यगर्भित, भिन्नलिङ्ग, भिन्न वचन, न्यूनोपमा, अधिकोपना, भित्तछन्द, भिन्नर्यात, अशरीर तथा अरीतिमत् ।[3]

---

२ — दुष्टपदं श्रुतिकटु च्युतसंस्कृत्यप्रयुक्तमसमर्थम् ।
निहतार्थमनुचितार्थं निरर्थकमवाचकं त्रिधाऽश्लीलम् ॥
सन्दिग्धमप्रतीतं ग्राम्यं नेयार्थमत् भवेत्क्लिष्टम् ।
अविमृष्टविधेयांशं विरुद्धमतिकृत्समासगतमेव ॥
(काव्यप्रकाश—७।५० एवं ५१)

१— दोषाः पदानां वाक्यानां वाक्यार्थानां च षोडस ।
हेयाः काव्ये कवीन्द्रैर्यै, तानेवादी प्रचक्ष्महे ॥
असाधु चाप्रयुक्तं च कष्टं चानर्थकं च यत् ।
अन्यार्थकमपुष्टार्थमसमर्थं तथैव च ॥
अप्रतीतमथ क्लिष्टं गूढं नेयार्थमेव च ।
सन्दिग्धं च विरुद्धं च प्रोक्तं यच्चाप्रयोजकम् ॥
देश्यं ग्राम्यमिति स्पष्टा दोषा स्युः पदसंश्रया। ।
(सरस्वती-कण्ठाभरण—१।३, ४, ५, एवं ६ का पूर्वार्द्ध)

२— शब्दहीनं क्रमभ्रष्टं विसन्धि पुनरुक्तिमत् ।
व्याकीर्णं वाक्यसंकीणमपदं वाक्यगर्भितम् ॥
द्वे भिन्नलिङ्गवचने द्वे च न्यूनाधिकोपमें ।
भग्नछन्दोयती च द्वे अशरीरमरीतिमत् ॥
वाक्यस्यैते महादोषा षोडशैव प्रकीर्तिता ।
(सरस्वती-कण्ठाभरण १।१८, १९ एवं २० का पूर्वार्द्ध)

भोज के वाक्यार्थ दोष हैं—अपार्थ, व्यर्थ, एकार्थ, ससंशय, अपक्रम, खिन्न, अतिमात्र पुरुष, विरस, हीनोपम, अधिकोपम, असदृशोपम, अप्रसिद्धोपम, निरलङ्कार, अश्लील, विरुद्ध।[१] अब अग्निपुराण में वर्णित भेदों के अनुसार उनके विस्तार से लक्षण वर्णित किए जा रहे हैं। सर्वप्रथम पददोष वर्णित है।

असाधुत्व

जिस वाक्य में व्याकरण के विरुद्ध प्रयोग प्रदर्शित किए जाते हैं, उसे अग्निपुराण में असाधुत्व दोष कहा गया है।[२] भोजराज इससे सहमत हैं। उनके अनुसार जो पदशब्द शास्त्र के नियमों के विपरीत होता है, उसे असाधु दोष-ग्रस्त कहते हैं।[३] जयदेव व्याकरण शास्त्र से विरुद्ध प्रयोग को च्युति-संस्कृति दोष के अन्तर्गत गिनते हैं।[४] मम्मट भी व्याकरण के नियमों के विरुद्ध दुष्ट प्रयोगों को च्युतिसंस्कृति दोष कहते हैं।[५] विश्वनाथ असाधु दोष को च्युति-संस्कृति-दोष के अन्तर्गत गिनते हैं।

अप्रयुक्तत्व

अप्रयुक्तत्व दोष को प्रायः सभी लक्षण ग्रन्थकारों ने माना है। जहाँ पर

१— अपार्थव्यर्थमेकार्थं - ससंशयमपक्रमम् ।
खिन्नं चैवातिमात्रं च पुरुषं विरसं तथा ॥
हीनोपमं भवेच्चान्यदधिकोपममेव च ।
असदृक्षोपमं चान्यदप्रसिद्धोपमं तथा ॥
निरलङ्कारमश्लीलं विरुद्धमिति षोडश ।
उक्ता वाक्यार्थजा दोषास्तेषां वक्ष्यामि लक्षणम् ।
(सरस्वती-कण्ठाभरण—१।४४, ४५, ४६)

२—शब्दशास्त्र-विरुद्धत्वमसाधुत्वं विदुर्बुधाः ।
(अग्निपुराण—३४७।४ का उत्तरार्द्ध)

३—शब्दशास्त्र-विरुद्धं यत्तदसाधु प्रचक्षते ।
(सरस्वती-कण्ठभरण—१।२)

४— संविद्रते व्याकरणविरुद्धं च्युति-संस्कृति ।
(चन्द्रालोक—२।२ का उत्तरार्द्ध)

५—च्युतिसंस्कृतिर्व्याकरणलक्षणहीनं यथा ।
(काव्यप्रकाश—७।पृष्ठ २५४)

ऐसे पदप्रयोग हों, जो पूर्व परम्परा में सर्वथा अप्रयुक्त हो, उन्हें आचार्य अप्रयुक्त नामक दोष कहते हें। अग्निपुराण के अनुसार विद्वानों के द्वारा अप्रयुक्त पदावली अप्रयुक्तत्व दोष-ग्रस्त हैं।[1] भोजराज भी इससे सहमत है।[2]

जयदेव के अनुसार व्याकरणादि शास्त्रों में बतलाए गए लिङ्ग के अनुरूप प्रयोग नहीं होते वे अप्रयुक्तत्व दोष ग्रस्त उत्पन्न होते हैं। उन्होंने "दैवत" शब्द का उदाहरण परिभाषा में दिया है।[3] जैसे अमरकोष में 'दैवत' शब्द को विकल्प से पुंल्लिग भी बतलाया है, किन्तु कवि-परम्परा में "दैवत" शब्द का प्रयोग नपुंसक लिङ्ग में होता है। अत: यदि कोई दैवत शब्द का प्रयोग पुलिङ्ग में करता है तो जयदेव की दृष्टि में उसे अप्रयुक्त दोषयुक्त काव्य कहेंगे। मम्मट ने दैवत का उदाहरण अवश्य दिया है परन्तु जयदेव की भाँति लक्षण में नहीं उनके अनुसार व्याकरणादि के द्वारा सिद्ध या उपेक्षित पद के प्रयोग से अप्रयुक्त नामक दोष उत्पन्न होता है।[4]

विश्वनाथ के अनुसार किसी पद की कोष आदि में जिस रूप में प्रसिद्धि हो उससे भिन्न रूप में प्रयुक्त करने पर प्रयोग को अप्रयुक्तत्व दोषग्रस्त कहेंगे।[5] अप्रयुक्तत्व दोष के रहने से सहृदयों का काव्यार्थ ग्रहण करने में बाधा पहुँचती है।

छान्दसत्व

जो प्रयोग लौकिकसाहित्य में न होता हो, केवल वेदों में होता हो वह अग्निपुराण के अनुसार छान्दसत्व दोष-ग्रस्त हैं। केवल वेद में प्रयोग

१—व्युत्पन्नैरनिबद्धत्वमप्रयुक्तत्वमुच्यते।
(अग्निपुराण—३४७।५ का पूर्वार्द्ध)

२—कविभिर्न प्रयुक्तं यदप्रयुक्तं तदुच्यते।
(सरस्वती-कण्ठाभरण—१।७ का उत्तरार्द्ध)

३— अप्रयुक्तं दैवतादिशब्दे पुंल्लिगतादिकम्।
(चन्द्रालोक—२।३ का पूर्वार्द्ध)

४— अपुयुक्तत्वं तथा ऽऽम्नातमपि कविभिरनादृतत्वम्।
(काव्यप्रकाश—७।पृष्ठ २५४)

५— अप्रयुक्तत्वं तथा प्रसिद्धावपि कविभिरनादृतत्वम्।
(साहित्य-दर्पण—७।पृष्ठ ५६१)

होने वाले शब्द कवियों द्वारा लौकिकसाहित्य में प्रयोग किए जाने पर यह दोष होता है।[१] मम्मट इसे अप्रतीत दोष के अन्तर्गत रखते हुए कहते हैं कि जब कोई शब्द केवल विशेष शास्त्र में प्रयुक्त हो तब अप्रतीत दोष होता है। जयदेव का भी यही मत है। भोज ने उस प्रयोग को अप्रतीतत्व-दोष के अन्तर्गत गिना है, जिसमें उस पद को कहा गया हो, जो केवल शास्त्रों में प्रसिद्ध हो, लोक सामान्य में नहीं।[२]

अविस्पष्ट

जब अर्थबोध में बाधा उत्पन्न होती है तो उसे अविस्पष्ट नामक दोष समझना चाहिए। इस प्रकार अर्थबोध में तीन प्रकार की बाधा पड़ सकती है। अतएव अविस्पष्ट के भी तीन भेद माने जाते हैं।

गूढार्थ

जब किसी शब्द के अर्थ का ज्ञान कष्ट-साध्य हो, तो वहाँ गूढार्थता नामक दोष होता है। अग्निपुराण के अनुसार यदि किसी शब्द के अर्थग्रहण करने में असुविधा हो तो उसे गूढार्थ नामक दोष कहते हैं।[3] भोजराज के के अनुसार जब अनेकार्थ वाले शब्द का अप्रसिद्ध अर्थ ग्रहण किया जाये तो गूढार्थ होता है।[४] भरतमुनि के अनुसार पर्यायवाची शब्दों के कारण ठीक अर्थग्रहण न किया जाना गूढार्थ है।[५]

विषर्यस्तार्थता

विपयस्ताथता में अभीष्ट अर्थ से भिन्न अर्थ झलकता है। अग्निपुराण

१— छान्दसत्वं न भाषायामविस्पष्टमबोधतः ॥
(अग्निपुराण—३४७।६ का उत्तरार्द्ध)

२— अप्रतीतं तदुद्दिष्टं प्रसिद्धं शास्त्र एव यत् ॥
(सरस्वती-कण्ठाभरण—२।१० का उत्तरार्द्ध)

३— गूढ़ार्थता विपर्यस्तथा संशयितार्थता ।
अविस्पष्टार्थता भेदा: तत्र गूढ़ार्थतेति सा ॥
(अग्निपुराण—३४७।७)

४— गूढ़ार्थमप्रसिद्धार्थं प्रयोगं ब्रुवते बुधाः ।
(सरस्वती-कण्ठाभरण—१।११ का उत्तरार्द्ध)

५— पर्यायशब्दाभिहितं गूढ़ार्थमभिसंज्ञितम् ।
(नाट्यशास्त्र—१७।८९ का पूर्वार्द्ध)

के अनुसार जब अभीष्ट अर्थ से विपरीत किसी अन्य अर्थ की धुंधली सी प्रतीति हो तो वहाँ विपर्यास्तार्थता नामक दोष होता है।[1]

संशयितार्थता

मम्मट के अनुसार इसका नाम सन्दिग्ध है। इसमें कोई पद दो अर्थों का बोधक होता है तथा यह सन्देह उत्पन्न करता है कि कौन-सा अर्थ वस्तुतः अभीष्ट है। जयदेव ने इसे सन्दिग्ध दोष कहा है।[2] अग्निपुराण के अनुसार जहाँ पर वास्तविक अर्थ की जानकारी न हो सके और पाठक दो अर्थों की सन्देह-जन्य द्विविधा में बना रहे तो वहाँ संशयितार्थता नामक दोष होता है।[3]

कष्टत्व

श्रुतिकटु शब्दों के प्रयोग से काव्य में कष्टत्व नामक दोष उत्पन्न होता है। अग्निपुराण के अनुसार जहाँ सहृदयों के अतिरिक्त अन्य व्यक्तियों को उच्चारण में कष्ट हो, वहाँ पर कष्ट से उच्चारित होने के कारण कष्टत्व नामक दोष होता है।[4] भोजराज के अनुसार दुर्वाच्य वर्णों से बने पदों का उच्चारण कष्ट से होने के कारण पद के कर्णप्रिय न होने के कारण अथवा श्रोत्रेन्द्रिय को दुःख देने वाले कर्णकटु पद के विन्यास के कारण कष्टत्व नामक दोष होता है।[5] चन्द्रालोक में पददोष में इसे श्रुतिकटु दोष कहा है।[6] एवं

१—यत्रार्थो दुःखसम्वेद्योः विपर्यस्तार्थतापुनः।
(अग्निपुराण—३४७।८ का पूर्वार्द्ध)

२— स्यादप्रतीतं शास्त्रैकगम्यं वीताऽनुमादिवत्॥
(चन्द्रालोक—२।९ का उत्तरार्द्ध)

३— अन्यार्थत्वासमर्थत्वे, एतामेवोपसर्यतः।
संदिह्यमानवाच्यत्वामाहुः संशयितार्थताम्॥
(अग्निपुराण—३४७।९)

४— दोषत्वमनुबध्नाति सज्जनोद्वेजनादृते।
असुखोच्चार्यमाणत्वं कष्टत्वं तत्र विद्यते॥
(अग्निपुराण—३४७।१०)

५— पदं श्रुतेरसुखदं कष्टमित्यभिशाब्दितम्।
(सरस्वती-कण्ठाभरण—१।८ का पूर्वार्द्ध)

६— भवेच्छ्रुतिकटुवर्णः श्रवणोद्वेजने पटुः।
(चन्द्रालोक—२।२ का पूर्वार्द्ध)

कष्टत्व नामक दोष को अर्थदोषों में परिगणित किया गया है। जयदेव ने कष्ट की परिभाषा देते हुए लिखा है कि यदि अर्थ शब्दों में रहता हुआ भी न रहते हुए के समान हो और उक्त कारण से ही स्फुट अर्थ की प्रतीति न कराता हो वहाँ कष्टार्थ दोष कहलाता है।[1] मम्मट ने भी इसे श्रुतिकटु नामक पद-दोष का प्रकार माना है। उनका कहना है कि कठोर वर्णों से युक्त दुष्ट पद श्रुतिकटुदोष से पूर्ण मानना चाहिए।[2]

विश्वनाथ के अनुसार कप्टत्व वह अर्थ दोष है, जिसके कारण कोई अर्थ कष्टपूर्वक अवगत हुआ करता है।

असामयिकत्व

समय के अनुकूल न होने को असामायिकत्व कहते हैं। अग्निपुराण में लिखा है कि कवि परम्परा के विरुद्ध कही गई बात को साहित्यशास्त्रियों ने असामायिकता-दोष माना है।[3] भोजराज ने इसे अन्यार्थ दोष के अन्तर्गत माना है। उनके अनुसार जब कोई पद अपने रूढ़िगत अर्थ से अलग हो जाता है तब वह अन्यार्थत्व दोष से युक्त कहा जाता है।[4]

ग्राम्यत्वष

अग्निपुराण में वर्णित ग्राम्यत्व दोष अधिक विस्तृत है, क्योंकि इसमें अश्लीलत्व दोष को भी अन्तर्निहित किया गया है। इसमें अश्लीलत्व के अन्य लक्षणग्रन्थकारों की भाँति दोष को अलग न गिनाकर उसी का एक भेद बतलाया गया है। भोजराज ने भी पददोषों के अन्तर्गत ग्राम्यत्व दोष गिनाकर उसके भेद के रूप में अश्लीलत्व दोष को गिना है एवं उसके तीन प्रकार बतलाए हैं। वाक्यार्थ दोष में अश्लीलत्व दोष को उद्धृत किया कहा गया। अग्निपुराण में

१— कष्टः स्पष्टावबोधार्थमक्षमो वाच्यसन्निभः।
(चन्द्रालोक—२।३० का पूर्वार्द्ध)

२— श्रुतिकटुरूपवर्णरूपं दुष्टं यथा।
(काव्यप्रकाश—७।पृष्ठ २५३)

३— ··· ··· ··· ··· समयाच्युति।
असामायिकता नेयामेतां च मुनयो जगुः॥
(अग्निपुराण—३४७।११ का पूर्वार्द्ध)

४— रूढिच्युतं पदं यत्तुतदन्यार्थमितिश्रुतम्।
(सरस्वती-कण्ठाभरण—२।९ का पूर्वार्द्ध)

ग्राम्यत्व दोष की परिभाषा देते हुए उसे तीन प्रकार का बतलाया गया हैं। जहाँ किसी शब्द से जघन्य अर्थात् जुगुप्सित अर्थ का आभास हो वहाँ पर ग्राम्यत्व नामक दोष समझना चाहिए। इसके तीन भेद होते हैं। यथा किसी ग्रामीण के वचन का कथन (२) किसी अन्य वचन से उसका कथन तथा (३) उसका उसी रूप में प्रयोग हो।[१]

अश्लीलत्व

यदि वाक्य इस प्रकार प्रकट किया जाय, जिससे जुगुप्सित अर्थ प्रकट हो तो उसे अश्लीलत्व दोष समझना चाहिए। भोजराज के अनुसार जब किसी वाक्य में अश्लीलत्प सूचक, अमंगल-सूचक अथवा घृणा-सूचक अर्थ प्रकट हो तो उसे ग्राम्यत्व दोष कहते हैं।[२] उन्होंने अश्लीलत्व दोष का लक्षण बतलाया है कि अश्लील अर्थ को प्रकट करने वाला वाक्य अश्लीलत्व दोष से युक्त होता है।[३] ग्रामीण शब्दों के प्रयोग को भोजराज देश्य नामक पृथक् अलंकार मानते हैं, जिसमें देशज शब्दों का प्रयोग अधिक हो या जिससे ग्रामीण के कथन की झलक मिले ग्राम्य नामक दोष है। इसमें पद का प्रयोग केवल असंस्कृत समाज में ही प्रचलित होता है, सभ्य समाज में नहीं।[४] चन्द्रालोक में तीन प्रकार का अश्लील बतलाया गया है व्रीडा जनक, जुगुप्सा जनक और अमंगल जनक।[५] विश्वनाथ ने भी तीन प्रकार का अश्लीलत्व दोष बतलाया है।[६]

१— ग्राम्यता तु जघन्यार्थप्रतिपत्तिः खलीकृता ॥
वक्तव्यग्राम्यवाच्यस्य, वचनात्स्मरणादपि ।
तद्वाचकपदेनाभिसाम्याद् भवति स त्रिधा ॥
(अग्निपुराण—३४७।११ का उत्तरार्द्ध एवं १२)

२— अश्लीलामङ्गलघृणावदर्थं ग्राम्यमुच्यते ।
(सरस्वती-कण्ठाभरण—१।१४ का उत्तरार्द्ध)

३— अश्लीलमिति निर्दिष्टमश्लीलार्थप्रतीतिकृत् ।
(सरस्वती-कण्डाभरण—२।५३ का उत्तरार्द्ध)

४— ग्राम्यं यत्केवलं लोके स्थितम् ।
(काव्यप्रकाश—७।पृष्ठ २६१)

५— अश्लीलं त्रिविधं व्रीडाजुगुप्साऽमङ्गलात्मना ।
(चन्द्रालोक—२।८ का पूर्वार्द्ध ।

६— अश्लीलत्वं व्रीडाजुगुप्साऽमङ्गलव्यजकत्वात्त्रिविधम् ।
(साहित्यदर्पण—७ पृष्ठ ५६०)

क्रियाभ्रंश

जैसा नाम से स्पष्ट है क्रियाभ्रंश अशुद्धि से सम्बन्धित दोष है। अग्निपुराण के अनुसार जहाँ पर क्रिया का अभाव हो, वहाँ पर क्रियाभ्रंश नामक दोष होता है।[1] भोजराज ने इसे शब्दहीन नामक दोष बतलाया है। उन्होंने स्पष्ट रूप से क्रिया का अभाव तो नहीं कहा है, परन्तु व्याकरण सम्बन्धी असंगति से युक्त वाक्य को शब्द हीन दोष से पूर्ण वाक्य कहा है।[2] क्रिया की शुद्धता वाक्य का प्राण है। यदि क्रिया अशुद्ध अथवा हीन हो, अथवा बिल्कुल ही न हो तो सार्थकता नहीं होती।

कारकभ्रंश

क्रियाभ्रंश की भाँति कारकभ्रंश दोष होता है। अग्निपुराण के अनुसार जहाँ पर कर्ता आदि कारक का अभाव होता है, वहाँ पर कारकभ्रंश नामक दोष समझना चाहिए।[3] यह एक प्रकार की शब्दहीनता है।

विसन्धि

अग्निपुराण के अनुसार व्याकरणादि से साध्य सन्धि प्रयोग न करना विसन्धि दोष हैं। इसके दो प्रकार हैं—सन्धि का अभाव होना और विरुद्ध सन्धि होना।[4] जहाँ अपनी इच्छा से सन्धि न की जाय, वहाँ पर पूर्ण दोष है और जहाँ शास्त्र के अनुसार सन्धि का अभाव हो और यदि वह बहुत अधिक स्थानों पर हो तब भी दोष माना जाता है। जयदेव के अनुसार

१— अक्रियत्वं क्रियाभ्रंशो·········।

(अग्निपुराण—३४७।१५ का पूर्वार्द्ध)

२— उच्यते शब्दहीनं तद्वाक्यं यदपशब्दवत् ॥

(सरस्वती-कण्ठाभरण—१।२१ का उत्तरार्द्ध)

३— ··· ··· ···भ्रष्टकारकता पुनः।
कर्त्तादिकारकाभावो··· ···· ···॥

(अग्निपुराण—३४१।१५)

४— ....विसन्धिः सन्धिदूषणम्।
विगतो वा विरुद्धो वा संधि स भवति द्विधा।
सन्धेविरुद्धता कष्टमपदार्थान्तरागमात् ॥

(अग्निपुराण—३४७।१६)

विसन्धि दोष दो प्रकार का है, जहाँ पर सन्धि द्वारा अश्लीलता अथवा क्लिष्टता उत्पन्न हो जाये। उसे कुसन्धि दोष कहते हैं और, यदि सन्धि हो रही हो और कवि उसमें सन्धि न करे तब विसन्धि दोष होता है। ऐसे प्रयोगों में रचना में शिथिलता आ जाती है, जो दूषकता का कारण होता है।

भोजराज ने विसन्धि दोष के विषय में लिखा है कि जिस वाक्य में सन्धि कार्य न हो या सन्धि करने पर अनौचित्य अथवा अननुरूपता हो तो वह काव्य विसन्धि दोष से युक्त होता है।[1] आचार्य भरत विसन्धि दोष का लक्षण देते हुए कहते हैं कि जहाँ शब्द परम्परया सन्धि से प्रतिष्ठित न हो वहाँ विसन्धि नामक दोष समझना चाहिए।[2] विश्वनाथ इसे सन्धिविश्लेष दोष कहते हैं। उनके अनुसार व्याकरण शास्त्र के नियम में उल्लंघन किया गया सन्धिभङ्ग वाक्य में सन्धिविश्लेष दोष कहलाता है।[3] मम्मट के अनुसार सन्धि का वैरूप्य विसन्धि दोष है। यह तीन प्रकार का है, (१) सन्धि का अभाव, (२) सन्धि से उत्पन्न अश्लीलता एवं (३) सन्धि के कारण श्रुति कटुता।[4]

दण्डी के अनुसार जहाँ पर व्याकरण शास्त्र के नियमों के अनुसार सन्धि होना आवश्यक हो, वहाँ पर प्रयोक्ता केवल इसलिए सन्धि न करे कि "मैं संहिता की विवक्षा नहीं करहा हूँ" वैसे स्थलों पर विसन्धि नामक दोष होता है। यदि प्रगृह्य संज्ञा के हो जाने से सन्धि कार्य नही हो पाता है तो वैसे स्थल में विसन्धित्व दोष नहीं माना जाता है।[5]

१— विसंहितो विरूपो वा यस्य संधिविसंधि तत्।

(सरस्वती-कण्ठाभरण—१।२२ का पूर्वार्द्ध)

२— अनुप्रतिष्ठा शब्दं यत् तद्विसन्धि-काशितम्।

(नाट्यशास्त्र—१७।९४ का पूर्वार्द्ध)

३— एवंविधसन्धिविश्लेषस्य असकृत् प्रयोग एव दोषः।

(साहित्य-दर्पण—७।पृष्ठ ५८६)

४— विसन्धि सन्धेर्वैरूप्यं, विश्लेषोऽश्लीलत्व कष्टत्वं च।

(कव्यप्रकाश—७।पृष्ठ २९२)

५— न संहितां विवक्षामीत्यसन्धानं पदेषु यत्।
तद्विसन्धीति निर्दिष्टं न, प्रगृह्ययादिहेतुकम्॥

(काव्यादर्श—३।१६९)

पुनरुक्तता

पुनरुक्तता का अर्थ है बार-बार कहा जाना। अग्निपुराण के अनुसार किसी वस्तु का पुनः-पुनः कथन पुनरुक्त दोष कहलाता है। इसके दो भेद हैं पदावृत्ति तथा अर्थावृत्ति। अर्थावृत्ति के भी दो भेद होते हैं।[१] भोजराज कहते हैं कि यदि किसी वाक्य में पद व पदार्थ बार-बार उसी रूप में आए तब पुनरुक्तिमत् नामक दोष होता है।[२] इस दोष के कारण काव्य का प्रवाह रुक जाता है। अतः सहृदय पाठकों को क्षोभ उत्पन्न होता है।

चन्द्रालोक में जहाँ पर किसी विशेष शब्द की आवृत्ति बार-बार हो वहाँ पर पुनरुक्तता दोष माना गया है। जैसे कोई कवि कहे कि नीलकमल के समान नीलनेत्र यहाँ पर "नील" शब्द की पुनरुक्ति खटकती है। अतः इस स्थल पर पुनरुक्तता नामक दोष है।[3]

विश्वनाथ पुनरुक्तत्व दोष को अर्थदोष में गिनते हुए उसका लक्षण बतलाते हैं कि पुनरुक्तत्व वह अर्थदोष है, जिसे एक प्रकार से प्रतिपादित अर्थ के पुनः प्रकारान्तर से प्रतिपादन में देखा जा सकता है।[४] अग्निपुराण में भी आवृत्ति के दो भेद बतलाते हुए लिखा है कि शब्दावृत्ति में शब्दों की आवृत्ति होती है तथा अर्थावृत्ति में अर्थों की आवृत्ति होती है। अर्थावृत्ति को भी दो प्रकार से वर्णित किया गया है। प्रथम तो उचित शब्द की आवृत्ति से तथा द्वितीय शब्दान्तर या अन्य शब्द की आवृत्ति से।[५]

२— पुनरुक्तत्वमाभीक्ष्ण्यादभिधानं द्विधैव तत्।
अर्थावृत्तिः पदावृत्तिरर्थावृत्तिरपि द्विधा॥
(अग्निपुराण—३४७।१७)

३— पदं पदार्थश्चाभिन्नो यत्र तत्पुनरुक्तिमत्।
(सरस्वती-कण्ठाभरण—२।२२ का उत्तरार्द्ध)

१— कथित पुनरुक्तावाक्, श्यामाब्जलोचना।
(चन्द्रालोक—२।१९ का पूर्वार्द्ध)

२— द्वितीयार्थे व्यतिरेकेण, द्वितीयपादस्यैवार्थ इति पुनरुक्तता।
(साहित्य-दर्पण—७।पृष्ठ ६०४)

३— प्रयुक्तवरशब्देन तथा शब्दान्तरेण च।
न वर्तते पदावृत्तौ वाच्यमावर्तते पदम्॥
(अग्निपुराण—३४७।१८)

व्यस्त-सम्बन्धिता

सम्बन्ध का सम्यक् रूप से निर्वाह न होने पर व्यस्तसम्बन्धिता नामक दोष होता है। अग्निपुराण में इसकी परिभाषा करते हुए इस दोष के तीन भेद बतलाए गये हैं, प्रथम अन्य सम्बन्ध का आभास, द्वितीय अन्य सम्बन्ध का जन्म एवं तृतीय भेद दोनों के ही ऊपर है। जब अन्य सम्बन्ध का आभास भी न हो तथा अन्य सम्बन्ध का प्रादुर्भाव न हो, किन्तु फिर भी अर्थज्ञान में बाधा हो तब तृतीय प्रकार का दोष होता है।[1]

भोजराज, विश्वनाथ एवं मम्मट ने इस प्रकार के दोष को संकीर्ण कहा है क्योंकि जब पदों अथवा वाक्यों का इस प्रकार सम्मिलन किया जाता है तब अन्य अर्थ निकलने लगता है। यदि इन तीनों आलंकारिकों द्वारा दिए गए संकीर्ण और गर्भित दोषों को मिला दिया जाये तो अग्निपुराण में वर्णित व्यस्त-सम्बन्धिता नामक दोष स्पष्ट हो जाता है। भोजराज ने लिखा है कि वाक्य के दूसरे वाक्य में मिल जाने पर संकीर्ण नामक दोष होता है।[2] यदि एक वाक्य के गर्भ में दूसरा भी वाक्य हो तब वाक्यगर्भित दोष होता है।[1] मम्मट ने लिखा है कि यदि एक वाक्य के पद में दूसरे वाक्य के पद प्रविष्ट हो जायें तब इसे सङ्कीर्ण दोष मानना चाहिए।[2] यदि एक वाक्य में दूसरा वाक्य प्रविष्ट हो जाये तब गर्भित नामक दोष समझना चाहिए।[3] इस प्रकार एक वाक्य में दूसरे के पद

१—व्यस्तसम्बन्धता सुष्ठु सम्बन्धो व्यवधानतः।
सम्बन्धान्तर निर्यासात्सम्बन्धान्तरन्मनः॥
उभावापि तयोरन्तर्व्यवधानात् त्रिधैव सा।
अन्तरा पदवाक्याभ्यां प्रतिभेदं पुनर्द्विधा॥

अग्निपुराण—३३४।१९ एवं २०

२—वाक्यान्तरपदैर्मिश्रं साङ्कीर्णामिति तद्विदुः॥

सरस्वतीकण्ठाभरण—१।२३ का उत्तरार्द्ध

१—वाक्यान्तरसगर्भं यत् तदाहुर्वाक्यगर्भितम्॥

सरस्वतीकण्ठाभरण—१।२४ का उत्तरार्द्ध

२—संकीर्णं यत्र वाक्यान्तरस्य पदानिवाक्यान्तरमनुप्रविशन्ति।

काव्यप्रकाश—७।३०८

३—गर्भितं यत्र वाक्यस्य मध्ये वाक्यान्तरमनुप्रविशति।

काव्यप्रकाश—७।पृष्ठ ३०६

प्रतिबिम्ब होने से सुन्दर सम्बन्ध का निर्वाह नहीं हो पाता एवं एक वाक्य में दूसरे वाक्य के प्रवेश करने से अन्य सम्बन्ध का आभास प्रतीत होता है।

जयदेव उपर्युक्त स्थिति में संकीर्ण नामक दोष मानते हैं। वे गर्भित को भी संकीर्ण का ही भेद मानकर कहते हैं कि जहाँ पद और वाक्य किसी दूसरे वाक्य में सम्मिलित हो जायें, वहाँ संकीर्ण नामक दोष होता है, जहाँ कोई पद किसी दूसरे वाक्य में प्रविष्ट हो वहाँ पद संकीर्ण और जहाँ किन्हीं स्थलों पर पुनरुक्तता खटकती है एक वाक्य दूसरे वाक्य में सन्निविष्ट हो जाये, वहां पर वाक्यसंकीर्ण दोष होता है।[1]

असमर्थता

जब वाक्य में प्रयुक्त शब्द अपना अर्थ स्पष्ट करने में असमर्थ रहे तो असमर्थता नामक दोष होता है। अग्निपुराण के अनुसार जब ईप्सित अर्थ में बाधा पहुँचाने वाला कोई कारण हो तो वहाँ असमर्थता दोष होता है।[2] भोजराज कहते हैं कि जो पद असंगत हो, अर्थात् जब पदों का परम्परया रूढअर्थ ग्रहण करने पर योग्यता का अभाव दृष्टिगोचर हो, तब उस पद को असमर्थता नामक दोष से युक्त समझना चाहिए।[3]

जयदेव असमर्थता का उदाहरण देते हुए लिखते हैं कि जैसे "हन्ति" आदि प्रयोग गमन अर्थ में प्रसिद्ध नहीं हैं। इनका गमन इत्यादि अर्थ में प्रयोग करना असमर्थता नामक दोष है।[4] विश्वनाथ ने असमर्थता दोष की परिभाषा न देकर केवल 'हन्ति' का प्रयोग गमन अर्थ को स्पष्ट करने में असमर्थ है, ऐसा

१—मिथः पृथग्वाक्यपदैः सङ्कीर्णा यत्तदेव तत्।

चन्द्रालोक—२।२५ का पूर्वार्द्ध

२—इष्टव्याघातकारित्वं हेतोः स्याद्समर्थता।

अग्निपुराण—३४७।२१ का पूर्वार्द्ध

३—असंगत पदं यत्तदसमर्थमिति स्मृतम्।

सरस्वती-कण्ठाभरण—१।१० का पूर्वार्द्ध

४—असमर्थं तु हन्त्यादेः प्रयोगो गमनादिषु॥

चन्द्रालोक—२।३ का उत्तरार्द्ध

उदाहरण मात्र दिया है ।[१] इसी में उनका लक्षण भी प्रतिबिम्बित है ।

दोषों का परिहार

काव्य में दोषों का होना काव्य के सौन्दर्य को कम कर देता है । कवियों को प्रयत्न पूर्वक इससे बचना चाहिये । आलंकारिकों के सामने यह एक महती समस्या थी कि क्या दोष सभी अवस्थाओं में केवल दोष ही रहते हैं, अथवा कहीं-कहीं दोष क्षम्य होकर दोष नहीं रह जाते हैं अथवा दोष के विपरीत गुण बन जाते हैं । आनन्दवर्धन के अनुसार रस के अपकर्ष करने वाले दोष होते हैं किन्तु यदि किसी विशेष कारण से वह रस का उत्कर्ष करे तो वह दोष न होकर गुण हो जाता है । जैसे मोती की माला में गुंथा हुआ नीलपलाश शोभित होता है, वैसे ही दुष्ट उक्ति भी समयानुसार शोभित होती है । भामह ने इसका उदाहरण देते हुए लिखा है कि जैसे मलिन कज्जल भी कामिनी के नयन में विन्यस्त होने पर शोभावर्धक हो जाता है, उसी प्रकार कुछ काव्यदोष भी किसी कारणवश शोभाधायक बन जाते हैं ।[२]

क्षेमेन्द्र के अनुसार काव्य में किसी भी वस्तु की उपादेयता तथा अनुपादेयता सम्बद्धता और असम्बद्धता और सुरूपता और कुरूपता रस के पोषण तथा शोषण पर निर्भर हैं । रसपोषक वस्तु ग्राह्य है और रसशोषक सर्वथा वर्ज्य है ।[३] यही औचित्य की सीमा वह अलंकार और गुण के सम्बन्ध में भी मानते हैं । उनका कहना है कि औचित्य की सीमा में ही अलंकार अलंकार है और गुण गुण हैं, परन्तु जैसे ही वे औचित्य से च्युत हो जाते हैं, और न गुण[४] औचित्य की सीमा में समाहित होने पर बे दोष को भी क्षमा कर सकते हैं ।[५]

१—"कुंज हन्ति कृशोदरी" ।
अत्र हन्तोति गमनार्थे पठितमपि न तत्रसमर्थम् ॥
साहित्यदर्पण—७|पृष्ठ ५७७

२—किंचिदाश्रयसौन्दर्याद् धत्ते शोभामसाध्वपि ।
कान्ताविलोचनन्यस्तं, मलोमसमिवांजनम् ॥ काव्यालंकार—१|५५

३—औचित्यविचार चर्चा—भूमिका पृष्ठ २३ ।

४—उचितस्थानविन्यासदलंकृतिलंकृतः ।
औचित्यादच्युता नित्यं, भवन्त्येव गुणागुणा ॥
औचित्यविचार चर्चा—श्लोक नं० ६

५—कवीनां समयाद्विधाविरुद्धो दोषतां गतः ॥ चन्द्रालोक—२|४२

जयदेव ने दोषाङ्कुश का स्वरूप बतलाते हुए इसके तीन प्रकार बतलाए थे, जिनमें दोष को निर्दोष बना देना और दोषों को ग्राह्य बना देना— ये दोनों दोष परिहार कहलाते हैं। विद्याविरुद्ध आदि दोष कवियों के सांकेतिक वर्णन में दोषाभाव को प्राप्त होता हैं, पुराण प्रसिद्ध वर्णन करना विद्याविरूद्ध दोष होता है, परन्तु कवियों के संकेत से वह दोष नहीं होता हैं। वह अधिक विचित्रता न होने के कारण गुण नहीं हो पाता है, ऐसो स्थिति में दोष को दोषाभाव प्राप्त हो जाता है। दण्डी कहते हैं कि शब्दहीन दोष यदि शिष्ट परिगृहीत हो तो वह दोष नहीं माना जाता है, अपितु महाकविगृहीत होने से वहाँ दोषपरिहार हो जाता है।[१]

अग्निपुराण के अनुसार, विरुद्धदत्व, अनैकान्तिकता, सत्प्रतिपक्षत्व, कालीतीतसंकर, पक्ष-सपक्ष नास्तित्व, विपक्ष-अस्तित्व आदि दोष काव्य में प्रतिपादित होने पर विशेष मनस्ताप विधायक नहीं होते हैं। समासादि के दुष्कर स्थलों में ११ प्रकार का निरर्थत्व भी दोष नहीं रह जाता।[२]

मम्मट ने भी कुछ ऐसे स्थलों का उदाहरण दिया है जब दोष न तो गुण का रूप धारण करता है और न दोष ही रह जाता है। रस-रहित काव्य में कष्टत्व न गुण होता है।[३] जैसे चित्र-काव्य में जब कवि अनुप्रास साधनों में ही लीन दिखलाई पड़ता है तब कष्टत्व मुख्यार्थ का आकर्षक नहीं है। अतः न गुण है और न दोष।

इसी प्रकार अग्निपुराण में लिखा है कि दुष्कर स्थलों में गूढ़ार्थया दोष नहीं

---

१. शब्दहीनमनालक्ष्यलक्ष्यलक्षण पद्धतिः।
पदप्रयोगोऽशिष्टेष्टः शिष्टेष्टस्तु न दुष्यति॥

काव्यादर्श—३।१४८

२. असिद्धत्वं विरूद्धत्वमनैकान्तिकता तथा।
एवं सत्प्रतिपक्षत्वं कालातीतत्वसंकर॥
पक्षे सपक्षे नास्तित्वं विपक्षेऽस्तित्वमेव तत्।
काव्येष्वपरिद्यानां न भवेदप्यरून्तुदम्॥
एकादश निरर्थत्वं दुष्करादौ न दुष्यति॥

अग्निपुराण—३४७।२२ का उत्तरार्द्ध २३ एवं २४

३. क्वचिन्नरिसे न गुणो न दोषः।

काव्यप्रकाश—७पृष्ठ ३४१

रहती है, क्योंकि कवि का अभिप्राय ही अर्थ को दुरूह बनाना रहता है। लोक में तथा शास्त्र में प्रसिद्ध ग्राम्यता भी उद्वेगकारी नहीं होती है। क्रियाभ्रंश में क्रिया के अध्याहार करने से दोष नहीं रहता है। इसी प्रकार जहाँ आक्षेप के बल से कारक का अध्याहार कर लिया जाये वहां भ्रष्टकारकता नामक दोष भी नहीं रहता है। विगतसंधिता से भी कोई विशेष हानि नहीं होती है, क्योंकि दुर्बचन आदि में कठिन पाठ के कारक विसंधिता दोष नहीं रह जाती।[1]

काव्य दोषों का गुण में परिवर्तित होना

कुछ स्थितियां काव्य में ऐसी होती हैं जब दोष-दोष नहीं रह जाते हैं। परन्तु कुछ स्थितियां ऐसी भी होती हैं जब वे ही काव्य दोष किसी स्थल पर गुण बन जाते हैं। जयदेव का कथन है कि ग्राम्य दोष हास्यरस में गुण बन बन जाता है,[2] क्योंकि हास्यरस की पुष्टि ग्राम्य दोष द्वारा अधिक होती है। अतः ग्राम्य दोष गुण बन जाता है। अग्निपुराण के अनुसार ग्राम्य बचन भी लोक और शास्त्र में उद्वेगकारी नहीं होता है। मम्मट के अनुसार अधमपात्रों की उक्ति में ग्राम्यता गुण हो जाता है।[3]

विश्वनाथ के अनुसार जब वक्ता के क्रोधावेश, वर्ण्यविषय के औद्धित्य तथा रौद्र आदि रसभाव के अभिव्यंजन में हो तो दुःश्रवत्व नामक दोष गुण हो जाता है।[4]

---

१. दुःखाकरोति दोषज्ञान्मूढार्थत्वं न दुष्करे।
न ग्राम्यतोद्वेगकारी प्रसिद्धे र्लोकशास्त्रयोः॥
क्रियाभ्रंशेन लक्ष्मास्ति क्रियाध्याहारयोगः।
भ्रष्टकारकताक्षेमबलाध्याहृत कारके॥
प्रगृह्यते गृह्यते नैव क्षतं विगतसन्धिना।
कष्टपाठासंधित्व दुर्वगादौ न दुर्भग्राम्॥ अग्निपुराण—३४७।२७

२. अत्रहास्यरसोद्देशे ग्राम्यत्वं गुणतागतम्॥
चन्द्रालोक—२।४२ का उत्तरार्द्ध

३. अधमप्रकृत्युक्तिषु ग्राम्यो गुणः।
काव्यप्रकाश—७।पृ० ३४५

२. वक्तरिक्रोधसंयुक्ते तथा वाच्ये समुद्धते।
रौद्रादौ तु रसेऽन्यतं दुःश्रवत्वं गुणोभवेत्॥
साहित्य-दर्पण—७।१६

अश्लीलत्व दोष कामगोष्ठी आदि में दोष न रहकर गुण हो जाता है, क्योंकि उस समय अश्लीलता उद्वेग पैदा नहीं करती, अपितु आनन्द को बढ़ाती है विश्वनाथ का कथन है कि प्रेम व्यापार के आरम्भ में अश्लीलत्व दोष गुण बनकर आता है।[1] हास्य और शोक के समय भी अश्लीलत्व गुण बन जाता है, क्योंकि राजाओं की गोष्ठी में क्वचित् द्वयर्थक वाक्यों से वार्तालाप किया जाता था। इसी प्रकार शोक में मनुष्य अपनी मर्यादा भूल जाता है। जिन वाक्यों को प्रेमी युगल एकान्त में कहने योग्य समझते हैं, विरह काल अथवा प्रेमी के सर्वथा न रहने पर 'शोका' वेश काल में उन्हीं वाक्यों को सबके सम्मुख कह देते हैं।

मम्मट कहते हैं कि अश्लीलत्व दोष तीन अवस्थाओं में गुण हो जाता है प्रथम कामगोष्ठी के आरम्भ में गोपनीय वस्तु को दो अर्थ देने वाले पदों द्वारा सूचित करना चाहिए तथा वैराग्य उत्पन्न करने के लिए शमकथाओं में घृणा-सूचक अश्लीलत्व दोष बन जाता है।[2]

वैराग्यसूचक कथाओं में मनुष्य की नाशशील काया से किसी प्रकार मोह न करना चाहिए, यह दिखलाने के लिए जो जुगुप्सायुक्त प्रयोग किए जाते हैं वे वस्तुतः गुण बन जाते हैं, क्योंकि ऐसा करने से शरीर में आसक्ति न रहकर उससे घृणा होती है। यही शमकथाओं का प्रमुख उद्देश्य है।

इसी प्रकार कथावस्तु में भावी अमंगल की सूचना देने के लिए जो अमंगल सूचक अश्लीलत्व होता है, वह भी गुण हो जाता है।[3] नाटक के प्रारम्भ में उसको कथावस्तु तथा अन्त प्रतिबिम्बित होना चाहिए। अतः नाटक में कोई भावी अमंगल है तो द्वयर्थक पदों से उसकी सूचना देना गुण है।

---

१. सुरतारम्भगोष्ठ्यादावश्लीलत्वं तथा पुनः।
तथा पुनरितिगुणमेव ॥

साहित्य-दर्पण—७।१७ का पूर्वार्द्ध

२. अश्लीलं क्वचिद्गुणः यथासुरतारम्भगोष्ठ्याम्।
द्वयर्थैः पदैः पिशुनयेच्च रहस्यवस्तु .... ।
.... तथा शमकथासु ॥

काव्यप्रकाश—७ पृ० ३४२

३. अत्रभाव्यमंगलसूचकम्।

काव्यप्रकाश—७ पृ० ३४३

इसी प्रकार अग्निपुराण के छान्दसत्व दोष और अन्य आलोचकों की दृष्टि का अप्रतीतत्व दोष भी तब गुण बन जाता है, जब वक्ता और श्रोता दोनों ही विद्वान् हों और कथित वाक्य का अर्थ समझने की क्षमता रखते हों।[१] अग्नि-पुराण में जिसे संशयितार्थता नामक दोष कहा गया है, जयदेव ने सन्दिग्ध नामक दोष से अभिहित किया है। विश्वनाथ कविराज के अनुसार यह भी व्याज-स्तुति में आकर गुण बन जाता है।[२]

दण्डी के अनुसार जब कदाचित् संशय उत्पन्न करने के लिए संशययुक्त वाक्य का प्रयोग किया जाय। यह दोष न हो कर गुण हो जायगा क्योंकि कवि का मन्तव्य ही अनिश्चय का ज्ञान कराना हैं। दण्डी तो यहाँ तक मानते हैं कि उसे संशयालंकार समझना चाहिए।[३]

किन्हीं स्थलों पर पुनरुक्तता खटकती नहीं है अपितु श्रुति-सुखद प्रतीत होती है। विश्वनाथ कहते हैं कि कतिपय पदों में पुनरुक्तत्व भी अभीष्ट है। जैसे ज्या के बदले धमुर्ज्या शब्द का प्रयोग।[४] अग्निपुराण में इस दोष का परिहार करते हुए लिखा है कि कभी कभी अनेक व्यक्तियों के द्वारा एक बात को कहना शुभ लगता है तो कभी बहुतों का एक बात को बहुत बार कहना शुभ लगता हैं।[५]

अग्नि पुराण में कहा गया है कि यदि अनुप्रास अलंकार का ग्रथन करना हो

१—गुणः स्यादप्रतीतत्वं ज्ञत्वं चेद्वक्तृवाच्ययोः।

साहित्य-दर्पण—७।१८ का पूर्वार्द्ध

२—सन्दिग्धत्वं तथा व्याजस्तुतिपर्यसायिचेत्।
गुण इत्येव॥

(साहित्यदर्पण—७/२० का उत्तरार्द्ध)

३—ईदृशं संशयायैव. यदि जातु प्रयुज्यते।
स्यादलंकार एवासौ न दोषस्तत्र तद्यथा॥

(काव्यादर्श—३/४१)

४—धनुर्ज्यादिपु शब्देषु शब्दास्तु धनुरादयः।
आरूढत्वादिबोधाय प्रयोक्तव्याः स्थिता अमी॥

(साहित्य दर्पण—७/२५)

५—अनेकस्य तथैकेन बहूनां बहुभिः शुभा।

अग्निपुराण ३४७।३० का पूर्वार्द्ध

तो व्यस्तसम्बन्धिता नामक दोष गुण हो जाता है।[1] दोषगुण हो जाने का एक मात्र अमोघ अपवाद विश्वनाथ ने बतलाया है कि अनुकरण में कभी भी कोई दोष उत्पन्न नहीं होता है। अतः किसी अन्य व्यक्ति की उक्ति को उसी रूप में प्रस्तुत करने पर वह गुण हो जाती है, क्योंकि उसमें वक्ता का कोई दोष नहीं रहता है। कहने वाले का वास्तविक मन्तव्य प्रकट हो जाये, इसलिए इस प्रकार के किसी भी अप्रचलित प्रयोग में अप्रतीतत्व इत्यादि दोष नहीं लगता है। अतः इसको निष्कर्ष रूप में कहते हुए विश्वनाथ ने कहा है कि उपर्युक्तविचारधारा का अनुकरण यदि औचित्य की दृष्टि से अन्य दोषों का भी अथवा गुणरूपता का मनीषी स्वयं ही विचार कर सकते हैं।[2]

१—अनुप्राप्ते पदावृत्तिर्व्यस्तासम्बन्धिता शुभा।
(अग्निपुराण—३४७।२८ का पूर्वार्द्ध)

२—अनुकारे च सर्वेषां दोषाणां नैव दोषता ॥
अन्येषामपि दोषाणामित्यौचित्यान्मनोषिभिः।
अदोषता च गुणता ज्ञेया चानुभयात्मता ॥
(साहित्यदर्पण—७।३१ का उत्तरार्द्ध एवं ३२)

उपसंहार

पुराण ज्ञान के अक्षय भण्डार हैं। किसी भी विषय का विशद निवेचन पुराण के द्वारा सम्भव है। एक ओर पुराण व्रत, उपवास, यम, नियम आदि धार्मिक कृत्यों के वर्णन के लिये प्रसिद्ध है तो दूसरी ओर शिल्प-निर्माण-स्थावत्य-कला भी इनके वर्णन-क्षेत्र से पृथक् नहीं है। स्वास्थ्य के नियमों का वर्णन तथा उसका प्राण आयुर्वेद का भी इसमें सम्यक वर्णन है। अत सब दृष्टियों से परिपूर्ण होने के कारण पुराणों को पंचम वेद की संज्ञा मिली।

कतिपय पुराणों में काव्य अत्याधिक उत्तम है। किसी में काव्यशास्त्र देश-काल के अनुकुल हर वस्तु का महत्व होता है परन्तु कुछ वस्तुयें ऐसी होती हैं, जो सार्वजनीन होती हैं और देश-काल पर उसका कोई भी प्रभाव नही पड़ता-ऐसा ही कांचन सा दीप्त रूप है पुराण के ज्ञान भण्डार का, जिसमें काल और युगरूपी धूल कभी नहीं चढ़ी।

काव्यशास्त्र अपने आप में बड़ा दुरुह विषय है क्योंकि काव्य-प्रतिभा प्रकृति प्रदत्त होती है। काव्य तो भावात्मक संवेगों के स्वीकृत हो जाने पर स्वतः ही फूट पड़ता है। इसके लिए विशेष प्रयत्न करने की आवश्यकता नहीं है और न ही इसके लिए उत्कट पाण्डित्य ही अपेक्षित है, किन्तु काव्यशास्त्र का ज्ञान ऐसा प्रकृति प्रदत्त नहीं है। उसमें निरन्तर साधना से कुछ पहुँच हो सकती है। ज्ञान को प्राप्त करने के लिए विभिन्न विद्वानों ने युगों से अनवरत स्वाध्याय किया, और इस दूरुह विषय का कुछ अंश प्राप्त कर सके। कहना न होगा कि पुराण ने ऐसे जिज्ञासु मनीषियों की ज्ञानपिपासा को अपने अक्षय ज्ञानकोष से सन्तुष्ट किया।

लक्षण-ग्रन्थकारों के लिए पुराण ने मार्गदर्शक का कार्य किया है। जो काव्यशास्त्रीय सामग्री इन पुराणों में उपलब्ध हो गई हैं, वह आज भी सब काव्यशास्त्रीय ग्रन्थ रूपी भवनों के लिए नींव के पत्थर का कार्य कर रही हैं। अपनी इस उपयोगिता के कारण पुराणों की काव्यशास्त्रीय सामग्री आधुनिकतम रससिद्ध आचार्यों एवं लक्षण ग्रन्थकारों के लिए उपजीव्य बनी रही। अग्नि पुराण, की काव्य शास्त्रीय सामग्री प्राच्य एवं पाश्चात्य दोनों के बीच

शृंखला का कार्य करती है। काव्यशास्त्र का कोई भी कर्ता बिना अग्निपुराण की सहायता लिए सर्वाङ्गपूर्ण ग्रन्थ की रचना कर नहीं सकता है।

अग्निपुराण काव्यशास्त्र का प्रामाणिक ग्रन्थ है। सभी विद्वानों ने इसे एक मत से ज्ञानकोष कहा है। अतः इसका स्वरूप व्याख्यात्मक न होकर वर्णनात्मक हो गया है। ऐसा प्रतीत होता है कि यह एक व्यक्ति के चिन्तन का परिणाम न होकर विभिन्न समय में आने वाले विभिन्न व्यक्तियों के चिन्तन का परिणाम है।

काव्यशास्त्रीय तत्त्वों से भरपूर पुराण बिल्कुल ही प्रकाश में नहीं था। सर्वप्रथम महामहोपाध्याय पी० वी० काणे का ध्यान इस ओर आकर्षित हुआ। उन्होंने यह अनुभव किया कि यह काव्यशास्त्रीय सामग्रियों से भरपूर है। अतः इसके ज्ञान से विद्वानों को लाभान्वित होना चाहिए। इस प्रकार अपने विभिन्न ज्ञानयुक्त सामग्री के कारण इसको इनसाइक्लोपीडिया कहा जाने लगा।

स्वयं पुराणों में ही पुराणों की प्रशस्ति मिलती है। उसमें सभी पुराणों की प्रमाणिक अनुक्रमाणिका दी गई है। भक्ति-साहित्य के अनुसार पुराणों का महत्त्व अत्यधिक है। काव्यशास्त्र की दृष्टि से भी पुराणों का बहुत महत्त्व है तथा प्राचीन एवं अर्वाचीन लक्षणग्रन्थकारों के लिए पुराण की काव्यशास्त्र सम्बन्धी सामग्री नितान्त अनुपम और अमूल्य है।



ग्रन्थ-सूची

१—रससिद्धात — डा० नगेन्द्र–नेशनल पब्लिशिंग हाऊस, दिल्ली ।

२—ध्वन्यालोक — ज्ञानमण्डल लिमिटेड, वाराणसी ।

३—रसमीमांसा — आचार्य रामचन्द्र शुक्ल–काशी नागरी-प्रचारिणी सभा, बनारस ।

४—रसगंगाधर तीनों खण्ड — टीकाकार पंडित बद्रीनाथ झा, चौखम्बा स० सी० बनारस ।

५—साहित्यशास्त्र — डा० मुंशीराम शर्मा–भारती प्राइवेट लिमिटेड, नया दारियागंज, दिल्ली ।

६—अलंकार-शास्त्र का इतिहास — डा० कृष्ण कुमार, गर्वनमेन्ट कालेज, नैनीताल ।

७—हिन्दीदशरूपक — टीका० प्रो० गोविन्द त्रिगुणायत साहित्य-निकेतन, कानपुर ।

८—रसविमर्श — डा० के०ना० वाटवे, ज्ञानेश्वर प्रेस–कोल्हापुर

९—काव्यप्रकाश — टीकाकार– डा० हरिदत्त शास्त्री, साहित्य-भण्डार, मेरठ ।

१०—चन्द्रालोक — नन्दकिशोर शर्मा, चौ० स० सी०, वाराणसी ।

११—काव्यप्रभाकर — जगन्नाथ प्रसाद, नागरी प्रचारिणी-सभा, वाराणसी ।

१२—हिन्दी वैष्णव-साहित्य में रस परिकल्पना — डा० प्रेम स्वरूप — नेशनल पब्लिशिंग हाऊस

१३—हिन्दी नाट्यशास्त्र — टी० प्रो० बाबूलाल शुक्ल, शास्त्री चौ० स० सी०, वाराणसी।

१४—नाट्यशास्त्र अभिनव-भारती टीका-स० डा० नगेन्द्र हिन्दी विभाग दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली

१५—स्वतन्त्र कलाशास्त्र-प्रथम भाग —डा० कान्ति चन्द्र पाण्डेय चौ० स० सी० वाराणसी १९८७

१६—हिन्दी नाटक-उद्भव औ विकास —डा० दशरथ ओझा हिन्दी अनुसन्धान परिषद्, दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली

१७—अंलकार-सर्वस्व टीका डा० रेवाप्रसाद द्विवेदी, चौ०स०सी०

१८—साहित्य के सिद्धान्त विश्लेषण एवं समीक्षा —आचार्य गिरजा दत्त त्रिपाठी प्रगति प्रकाशन, आगरा

१९—भारतीय काव्यसिद्धान्त —आचार्य काका कालेलकर, लोक भारती-प्रकाशन १५-ए महात्मा गांधी मार्ग, इलाहाबाद।

२०—साहित्यदर्पण टी० डा० सत्यव्रत सिंह, चौ० विद्याभवन वाराणसी

२१—रसिकप्रिया खेमराज श्रीकृष्णदास बनारस

२२—करुणरस डा० व्रजवासी लाल श्रीवास्तव

२३—साहित्य विवेचन के सिद्धान्त — सुमन मल्लिक, आत्माराम एन्ड संस

२४—रस और रसास्वादन डा० हरद्वारी लाल शर्मा, हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग

२५—अग्निपुराण का काव्य शास्त्रीय भाग —डा० रामलाल वर्मा शास्त्री, नेशनल हाऊस, दिल्ली।

२६—पुराण-विमर्श डा० बलदेव उपाध्याय, चौ०स०सी० वाराणसी

२७—काव्य-मीमांसा (अनुवादक) डा० गंगासागर राय, चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी

२८—रसप्रक्रिया डा० शंकर देव अवतरे, दि मैकमिलन कम्पनी आफ इन्डिया लिमिटेड

२९—संस्कृत साहित्य का इतिहास —डा० बलदेव उपाध्याय, शारदा मन्दिर, वाराणसी

३०—विक्रमांक देव चरितम् —आत्माराम एन्ड सन्स लखनऊ

३१—नैषधीयचरितम् —आत्माराम एन्ड सन्स लखनऊ

३२—ध्वन्यालोक लोचन —चौखम्बा संस्कृत सीरीज, वाराणसी

३३—संस्कृत आलोचना —डा० बलदेव उपाध्याय-हिन्दी समिति

३४—काव्यादर्श टीका० —आचार्य रामचन्द्र मिश्र, चौ० विद्याभवन वाराणसी

३५—नाट्यशास्त्र — सम्पादक वटुक नाथ शास्त्री तथा बलदेव उपाध्याय, चौखम्बा सांस्कृत सीरीज विद्या विलास प्रेस वाराणसी

३७—वक्रोक्ति-जीवितम् —टी० डा० दशरथ ओझा, विश्वविद्यालय प्रकाशन वाराणसी

३८—काव्यालंकार —टी० पण्डित रामदेव शुक्ल चौ० विद्याभवन वाराणसी ।

३९—अभिनव रससिद्धांत —डा० दशरथ द्विवेदी–विश्वविद्यालय-प्रकाशन वाराणसी

४०—साहित्य-शास्त्रीय तत्वों का आधुनिक समालोचनात्मक अध्ययन लें० श्री मधुसूदन शास्त्री, चौ० विद्या भवन वाराणसी

४१—भारतीय काव्यशास्त्री के प्रतिनिधि सिद्धांत ले० प्रो० राजवंश सहाय हींरा, चौ० भवन, वाराणसी

४२—श्रृंगाररस का शास्त्रीय विवेचन –ले० डा० इन्द्रपाल सिंह, चौ० वाराणसी

४३—नाट्यदपर्ण — रामचन्द्र गुणचन्द्रकृत-स० डा० नगेन्द्र हिन्दी विभाग दिल्ली विश्वविद्यालय दिल्ली

४४—दशरूपक —व्याख्याकार डा० रामजी उपाध्याय भारतीय-संस्कृति संस्थान नारीबारी, इलाहाबाद

४५—साहित्यानुशासन —आचार्य पण्डित श्री सीताराम चतुर्वेदी चौखम्भा संस्कृत सीरीज आफिस वाराणसी

४६—साहित्य शास्त्र के सिद्धांत —लेखिका सरोजनी मिश्रा, यंगमन एन्ड कम्पनी

४७—सरस्वती-कण्ठाभरण —डा० कामेश्वर नाथ मिश्र, चौखम्भा औरिएन्टालिया

४८—भोजप्रवंध सुभाष भन्डार, मेरठ।

४९—औचित्य-विचार-चर्चा —आचार्य श्री व्रजमोहन झा, चौखम्भा विद्याभवन, वाराणसी

—:o:—

अंग्रेजी पुस्तकों की सूची

1. The Number of Rasas -V. Raghvan
   The Adyar Library Madras.
2. Ancient Indian Historical Traditions-
   Dr. F. E. Parziter
3. Studies in The Puranic Records on Hindu Rites and Customs.
4. History of Sanskrit Literature-A. B. Keith
   Oxfod University Press-London
5. History of Sanskrit Poetics- P. V. Kane.
6. Homage to Vyasa Dr. A.V. Raghvan
7. Agnipuranic Study - S. D. Gyani
8. History of Sanskrit Literature - S. N. Dasgupta &
   S. K. De. - Volume I - 1947-
9. On the Art of Poetry - Aristole
   Translated by Ungram Bywater
   Oxford Uhiversity Press, Londn.
10. Puranic Records - Hazara
    I Bamkim Chandrachaterji Street.
    Calcutta - 12.
11. The Poetic Image- The Clark Lectures given at Cambridge in 1946.
    Jonathan. Cape Thirty Bedford Square, London.
12. The Dhavani Theory in Sanskrit Poetics-
    By Mukunand Madhava Sharma
    Chokhambha Publication.
13. The Aesthetic experience According to Abinavagupta
    By Raniero Gnoti
    Choukhamba Publication
14. Some problems of Sanskrit Poetics.
    By S. K. Dey.
15. Bhoja's Sringara Prakasa- V. Raghvan
    Sri Krishnaapuram Street Madras -14

LIST OF JOURNALS

१—गायकवाड़ ओरिएन्टल सीरीज बडोदा gournal

२—काश्मीर संस्कृत सी·ोज

३—पुराणम्—All India Kashi Raj Trust
Fort RamNagar Varansi

४—अड्यार लाइब्रेरी मद्रास gournal

५—भण्डारकार ओरिएन्टल रिसर्च इन्स्टीट्यूट मद्रास gournal
Vol I. II, III

६—सिन्धिया ओरिएन्टल सीरीज उज्जैन gournal

७—त्रिवेन्द्रम् संस्कृत सीरीज

8—Journal of the University of Bombay.

9—Jounal of the American Society

10—Bulletin of Archaeological Survey of India

पुराणों की सूची

१—मत्स्य-पुराण
२—मार्कण्डेय-पुराण
३—भविष्य-पुराण
४—भागवत-पुराण
५—ब्रह्मपुराण
६—ब्रह्मवैवर्त पुराण
७—ब्रह्माण्ड-पुराण
८—वामन-पुराण
९—वराह-पुराण
१०—वायुपुराण
११—विष्णुधर्मोत्तर-पुराण
विष्णु-पुराण
१२—अग्निपुराण
१३—नारदपुराण
१४—पद्मपुराण
१५—लिङ्गपुराण
१६—गरुडपुराण
१७—कूर्मपुराण
१८—स्कन्दपुराण

